कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

राजनीति-विज्ञान

लेखक—सुखसम्पति राय भण्डारी

निवेदन

प्रिय पाठकवृन्द ! आज हिन्दी-साहित्यमें राजनीति-विषयक पुस्तकोंका जैसा अभाव है वह आपलोगोंसे छिपा नहीं है। उस अभावकी पूर्त्तिके लिये ही यह 'राजनीति-विज्ञान' नामकी पुस्तक आपके सामने रखता हूं। पाश्चात्य राजनीति-विद्या-विशारदोंके विचारोंका स्थान स्थानपर उल्लेख किया गया है जिससे राजनीतिके गूढ़ रहस्योंको पाठक सहज ही समझ सकें।

मैंने विशेष ध्यान इस ओर दिया है कि यह पुस्तक राजनीतिके विद्यार्थियोंके लाभकी हो। जहांतक मैं समझता हूं इससे प्रत्येक विद्यार्थी विशेषकर राष्ट्रीय विद्यालयोंके विद्यार्थी अवश्य लाभ उठावेंगे। यह पाठ्य पुस्तकोंमें रखने योग्य है। मैं अपने इस प्रयत्नमें कहांतक सफल हुआ हूं इसका निर्णय विद्यालयोंके शुभ-चिन्तकों, विद्यार्थियों और प्रेमी पाठकोंके ऊपर है। यदि प्रेमी पाठकोंने सदाकी भांति इसे भी अपनाया तो दूसरे संस्करणको और भी अच्छे रूपमें पाठकोंके सामने रखूंगा।

विनीत—

प्रकाशक

भूमिका

आजकल देशमें राजनैतिक भावनाओंकी अद्भुत जागृति हो रही है। देश स्वराज्य और उत्तरदायित्वपूर्ण शासनके लिए लालायित हो रहा है। पर स्वराज्यकी सफलताके लिए पौर्वात्य और पाश्चात्य राजनीतिज्ञानकी बड़ी ही आवश्यकता है। मुझे खेदके साथ कहना पड़ता है कि, हिन्दीमें राजनीतिके सिद्धान्तों-की विवेचना करनेवाले ग्रन्थ नाम मात्रके हैं। राजनीतिक साहि-त्यका अभाव साहित्यमें बहुत खटकता है। इसी अभावकी किंचित् अंशमें पूर्त्ति करनेके लिये मैंने यह प्रयत्न किया है। मैं नहीं कह सकता कि, इसमें मैं कहांतक सफल हुआ हूं, इसका निर्णय करनेका अधिकार पाठकोंको ही है। मैं तो इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि यह मेरे एक वर्षके सतत परिश्रमका फल है। इसके लिये मुझे पचासों अंगरेजीके ग्रन्थ देखने पड़े हैं, और उन्हींका सार इसमें भरनेका प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थके लिखनेमें मुझे प्रधान रूपसे निम्नलिखित ग्रन्थों-से सहायता मिली है जिसे मैं कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करता हूं।

(1) Theory of the State by Bluntchli
(2) Problems of Politicat Science by Row
(3) Political Philosophy by Willoughby
(4) The Domain of Political Science by Munro Smith
(5) Elements of political Science by Sidgwick
(6) Introduction to Political Science by Garner

और भी अनेक सुप्रख्यात और प्रमाण भूत ग्रन्थोंसे सहायता मिली है अतएव उन लेखकोंके भी हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

अजमेर
२७. ३. २२

भवदीय—
सुखसम्पति राय भण्डारी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

विषय पृष्ठ

——

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी-माला संख्या—२९

मुखाकृति निदान

लेखक—प्रसिद्ध जलचिकित्सक डाक्टर लुई कूने

अनुवादक, अध्यापक श्री रामदास गौड़ एम० ए०

शीघ्रही प्रकाशित होगी।



हिन्दी पुस्तक एजेंसी माला संख्या—३०

वीर केसरी शिवाजी

लेखक—श्रीनन्दकुमारदेव शर्मा

छप रही है।

राजनीति विज्ञान

राजनीतिशास्त्र क्या है ?

भिन्न भिन्न राजनीतिज्ञ राजनीतिशास्त्रकी भिन्न २ व्याख्याएँ करते हैं पर सामान्यतया राजनीतिशास्त्रसे उस शास्त्रकी कल्पना होती है जो राज्य (State) के शासन, गुण, कर्म, धर्म तथा उसके भिन्न २ रूपोंका विवेचन करता है। यह दो प्रकारका है, यथा (१) सैद्धान्तिक राजनीतिशास्त्र (Theoratical Politics) और दूसरी व्यावहारिक राजनीतिशास्त्र (Applied Politics)। सैद्धान्तिक राजनीतिशास्त्र केवल राज्य या राज्यशासनके मूलका, उसके तत्त्वोंका, उसके सिद्धान्तोंका और उसके आदर्शोंका विवेचन करता है। इसके विपरीत व्यावहारिक राजनीतिशास्त्र उन साधनों और उपायोंका विचार करता है जिनके अवलम्बन-से राजनीतिशास्त्रके तत्त्व, आदर्श व्यवहारमें लाये जा सकें। दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि यह दूसरी तरहका राजनीति-शास्त्र शासनके व्यावहारिक रूप और कार्य्य पर प्रकाश डालता है। एक सुप्रख्यात पाश्चात्य विद्वानने सैद्धान्तिक और व्याव-हारिक राजनीतिशास्त्रके उद्देशोंको इस प्रकार प्रकट किया है—

सैद्धान्तिक राजनीति	व्यावहारिक राजनीति
राज्यके सिद्धान्तोंका अर्थात् उनके मूल, गुण, धर्म और आदर्शोंका विवेचन।	(१) राज्यके व्यावहारिक और प्रत्यक्षरूप या शासनका विवेचन
(२) शासनसिद्धान्त अर्थात् शासन-सम्बन्धी संस्थाओं, विभाग-व्यवस्था, राज्यकर, कानून आदिके सिद्धान्तोंका वर्णन।	(२) शासनके व्यावहारिक और प्रत्यक्षरूपका वर्णन जिसमें जुदी-जुदी शासन-प्रणालियोंका वर्णन और विश्लेषण होगा।
(३) कानून बनानेका सिद्धान्त अर्थात् इसमें कानूनकी उत्पत्ति, उद्देश, विकास आदिका वर्णन रहता है।	(३) कानूनका व्यावहारिक उपयोग।

सुप्रख्यात जर्मन राजनीतिज्ञ ब्लंशले (Bluntschli) का कथन है कि "राजनीतिशास्त्र उस शास्त्रका नाम है, जिसमें राज्यके तत्त्वोंका, उसकी मूल प्रकृतिका, उसके गुणधर्मका, उसके विविध रूपों और विकासका वर्णन रहता है। ब्लन्शलेकी तरह एक दूसरा गैरियस (Garies) नामक जर्मन राजनीतिज्ञ राज्यकी व्याख्या इस प्रकार करता है—"राजनीतिशास्त्र राज्यको शक्तिकी संस्था (Institution of Power) समझता है और यह राज्यकी उत्पत्ति, उद्देश और आदर्शपर विचार करता है। पाल जैनेट (Paul Janet) नामक फ्रान्सका

एक नामांकित लेखक राजनीतिशास्त्रको समाजशास्त्रका वह हिस्सा समझता है, जो राज्यके मूल और शासनके तत्त्वोंपर विचार करता है। प्रोफेसर सीली महाशय राजनीतिशास्त्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"राजनीतिशास्त्र शासनके सिद्धान्तों और कार्य्योंका उसी प्रकार विवेचन करता है जिस प्रकार अर्थशास्त्र संपत्तिका, जीवशास्त्र जीवनका और बीज-गणित अङ्कोंका।

इन सब मतों और व्याख्याओंका सारांश यह है कि राजनीतिशास्त्र साधारणतया सब दृष्टियों और सब बाजुओंसे राज्यका विचार करता है। राजनीतिशास्त्रका आरम्भ और अन्त राज्यहीसे होता है। वह जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, राज्यकी उत्पत्ति, मूल प्रकृति, तत्त्व और उसके विविध रूपों तथा विकासपर विचार करता है।

राजनीतिशास्त्रका अन्य शास्त्रोंसे सम्बन्ध

जिस प्रकार अर्थशास्त्र, अपराधशास्त्र आदि समाजशास्त्रके अङ्ग हैं, वैसे ही राजनीतिशास्त्र भी समाजशास्त्रका एक अङ्ग-विशेष है। समाजशास्त्रके इन भिन्न भिन्न अङ्गोंमें परस्पर इतना सम्बन्ध है कि इन्हें एक दूसरेसे बिलकुल जुदा कर देना असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है। इनका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणके लिये आप राज्यको ले लीजिये। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं—राज्यपर विचार करना राजनीतिशास्त्रका काम

है, पर राज्यहीसे सम्बन्ध रखनेवाले कितने ऐसे आर्थिक प्रश्न हैं, जिनपर विचार करना अर्थशास्त्रका काम है। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्रका और भी अनेक शास्त्रोंसे सम्बन्ध है। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च राजनीतिक लेखक पाल जैनेट (Paul Janet) लिखता है—राजनीतिशास्त्रका अर्थशास्त्र (Political economy) या सम्पत्तिविज्ञान (Science of wealth) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार उसका कानून-इतिहास और दर्शन-शास्त्रसे भी सम्बन्ध है। जेलिनेक (Jellinek) नामक विख्यात लेखक तो इससे बहुत आगे बढ़कर कहता है कि राजनीतिशास्त्रका सम्बन्ध न केवल अर्थशास्त्र, कानून-विज्ञान और इतिहाससे है वरन्, मनुष्यशास्त्र, मानसशास्त्र; नीतिशास्त्र और भूगोलसे भी है। इतना ही नहीं ये सब शास्त्र इसके सहयोगी हैं। यहां हम यह उचित समझते हैं कि इस बातका कुछ खुलासा कर दें कि भिन्न २ शास्त्रोंके साथ इस शास्त्रका क्या सम्बन्ध है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

हम ऊपर कह चुके हैं कि राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्रका अङ्ग-विशेष है। इन्हें एक दूसरेसे बिलकुल जुदा कर देना दुस्साध्य है। इन दोनोंके बीचमें सीमाबन्धनकी स्पष्ट लाइन खींचना दुष्कर है। राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्रका बच्चा है। हां, वैज्ञानिक अन्वेषणके लिये हम इन्हें थोड़ी देरके लिये अलग २ कर

सकते हैं, पर इनके बीचमें सीमाबन्धनकी नैसर्गिक लाइन खींचना तो असंभव भी कहा जाय तो विशेष अतिशयोक्ति न होगी।

समाजशास्त्र उस शास्त्रको कहते हैं जिसमें शास्त्रीय रीतिसे समाजका इस दृष्टिसे विचार किया गया है कि वह व्यक्तियोंका समुदाय है। दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि समाजशास्त्र उस शास्त्रका नाम है जिसमें मनुष्योंका उनके सामुदायिक रूपमें विचार किया गया हो। इसके विपरीत राजनीतिशास्त्र समाजके केवल एक रूपका—राजनीतिक रूपका विचार करता है। अर्थात् राजनीतिशास्त्रका कार्य्यक्षेत्र समाजशास्त्रके कार्य्य क्षेत्रसे संकुचित है। इतना होते हुए भी समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्रका पिता पुत्र तुल्य सम्बन्ध है। जहां समाजशास्त्र समाजपर, मानव समुदायपर सब दृष्टियोंसे विचार कर सकता है, वहां राजनीतिशास्त्र समाजके केवल राजनीतिक पहलू (Political side) पर विचार करता है।

इतिहास और राजनीतिशास्त्र

इतिहास और राजनीतिशास्त्रका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हां, यहां हम इतना अवश्य कहेंगे कि जहां समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्रका पिता पुत्र तुल्य सम्बन्ध है, वहां इतिहास और राजनीतिशास्त्रका भाई भाई सा सम्बन्ध है। सुप्रख्यात राजनीतिके लेखक जेलिनेक (Jellinek) महाशयका कथन है, किसी भी प्रकारकी संस्थाओंका अध्ययन, चाहे वे राजनीतिक हों,

चाहे कानूनी या सामाजिक हों, बिना इतिहासकी सहायताके नहीं हो सकता। राजनीतिज्ञके लिये राजनीतिक संस्थाओंके केवल गुण धर्मकाही अध्ययन बस नहीं होता, उसे इस बातका भी अध्ययन करना पड़ता है कि इन संस्थाओंका विकास कैसे हुआ, उनमें समय समयपर किस किस प्रकारके परिवर्तन होते गये और उन परिवर्तनोंसे मनुष्य-समाजकी सभ्यतापर क्या क्या प्रभाव पड़े। राजनीतिज्ञके लिये इन बातोंका जानना अत्यन्त आवश्यक है और ये बातें इतिहाससे सम्बन्ध रखती हैं। राजनीतिशास्त्र और इतिहासके इस अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धको देखकर राजनीतिके सुप्रसिद्ध आचार्य्य, सीली, महोदय कहते हैं, "बिना इतिहासके राजनीतिशास्त्र निकम्मा है और बिना राजनीतिशास्त्रके इतिहास निकम्मा है"

यद्यपि इतिहास और राजनीतिशास्त्रका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और इतिहास राजनीति-शास्त्रकी सामग्री तैयार करता है, पर हम सुप्रसिद्ध पाश्चात्य राजनीतिक लेखक फ्रीमेन महोदयके इस कथनसे सहमत नहीं कि "इतिहास भूतकालीन राजनीति है या भूतकालीन राजनीति ही इतिहास है।" अगर फ्रीमेन महोदयका अभिप्राय केवल राजनीतिक संस्थाओंके इतिहाससे होता, तो हम उनके साथ सहमत हो जाते पर उन्होंने केवल "इतिहास" लिखकर अपनी व्याख्याको कमज़ोर कर दिया है। नये २ आविष्कारोंके, भाषाओंके, रीतिरिवाजोंके, उद्योग धन्धोंके भी इतिहास हैं। बतलाइये, इनका राजनीतिशास्त्रसे

ऐसा कौनसा आवश्यक सम्बन्ध है, इसी तरह सब प्रकारकी राजनीतिका भी सम्बन्ध इतिहाससे नहीं है। विशुद्ध तात्त्विक राजनीति (Pure philosophical politics) भी इतिहासमें कैसे समा सकती है ?

इतिहासका कार्य्य संसारमें होनेवाली महत्वपूर्ण घटनाओंका वर्णन करना और उनसे होनेवाले विविध प्रभावोंको प्रकट करना है। इसके अतिरिक्त इतिहासका यह भी काम है कि विविध संस्थाओंके विकास और पतनका परिचय करवाना और यह दिखलाना कि इनमें सृष्टिके नियम किस किस प्रकारसे कार्य्य कर रहे हैं, अर्थात् इतिहासका कार्यक्षेत्र राजनीतिक घटनाओंके वर्णन या विश्लेषणतक ही परिमित नहीं है। वह विशाल है और इतिहास तबसे चला आ रहा है जब मनुष्यमें राजनीतिक भावनाओंका उदय भी नहीं हुआ होगा। इसलिये इतिहास और राजनीतिशास्त्रका घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भी यह कहना ठीक नहीं कि "इतिहास भूतकालीन राजनीति है, और भूतकालीन राजनीति आधुनिक इतिहास है (History is past politics or that politics is present history) ।

अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

हमने इस अध्यायके आरम्भमें अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्रके सम्बन्धपर कुछ प्रकाश डाला है, पर वह इतना थोड़ा है कि उससे शायद पाठकोंको सन्तोष न होगा। अतएव इसी

विषयपर और दो शब्द लिखने अनुचित न होंगे। इतिहासकी तरह अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्रका भी भाई भाई सा घनिष्ठ सम्बन्ध है विशेष कर इस युगमें तो यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया है कि शायद किसी ऐतिहासिक युगमें ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा होगा। आजकल राज्यकी बहुतसी बातें आर्थिक नीतिपर निर्भर करती हैं। पूंजीदारों और मजदूरोंमें क्या सम्बन्ध है और क्या होना चाहिये? देशकी सम्पत्तिको किस प्रकार वृद्धि की जावे? कौन कौनसे मालपर कैसे कैसे कर लगाये जायँ? देशके लिये संरक्षण-नीति लाभकारक है कि अबाध्य वाणिज्य नीति? ये सब प्रश्न ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध जहां अर्थशास्त्रसे है, वहां राजनीतिशास्त्रसे भी है, इसी प्रकार कई ऐसे विषय हैं, जिनका सम्बन्ध इन दोनों शास्त्रोंसे है।

इकरार-सिद्धान्त

राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जिस सिद्धान्तने गत दो सौ वर्षोंसे यूरोप और अमेरिकाके विद्वानोंका ध्यान खींच रखा है, वह इकरार-सिद्धान्त (The Compact theory) है। हमारे महाभारतमें भी इस सिद्धान्तका दिग्दर्शन है। श्रीयुक्त चिन्तामणराव वैद्य "हिन्दी महाभारत मीमांसा" में लिखते हैं :—

"राजसत्ताकी मूल उत्पत्ति कैसे हुई और उस सत्ताके साथ ही साथ न्यायानुसार राज्य करनेकी जवाबदेही राजालोगोंपर कैसे आ पड़ी? इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें एक और सिद्धान्त महा-

भारतमें पाया जाता है। इस सिद्धान्तमें यह कल्पना की गयी है कि राजा और प्रजाके बीच इकरार हुआ था। पाश्चात्य देशोंमें हाब्स आदि राजकीय तत्त्ववेत्ताओंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि आरम्भमें राजा और प्रजाके बीच इकरार होता है। इस बातपर ध्यान रहे कि हजारों वर्ष पहले भारतीय आर्य्योंने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। शांतिपर्वके ६७ वें अध्यायमें यह वर्णन है कि पहले राजाके न रहनेसे बली निर्बलको जलकी मछलियोंकी नाईं खाने लगे, तब सब लोगोंने मिलकर नियम किया कि "जो कोई किसीसे कटु भाषण करेगा, उसे मारेगा या किसीकी स्त्री अथवा द्रव्यका हरण करेगा, उसे हम त्याग देंगे।" यह नियम सब लोगोंके लिये एक सा है, परन्तु जब इसका परिपालन नहीं हुआ तब सारी प्रजा ब्रह्माके पास गयी और कहने लगी कि हमारा प्रतिपालन करनेवाला कोई अधिपति हमें दो, तब ब्रह्माने मनुको आज्ञा दी। उस समय मनुने कहा—"मैं पापकर्मसे डरता हूं। असन्मार्गसे चलनेवाले मनुष्योंपर राज्य करना पाप है।" तब लोगोंने कहा—"राष्ट्रमें जो पाप होगा, वह कर्ताको लगेगा। तू मत डर, तुझे हम पशुओंका पचासवाँ हिस्सा और अनाजका दशमांश देंगे। शस्त्र अस्त्र और वाहन लेकर हमारे मुखिया लोग तेरे साथ रहेंगे। तू सुख और आनन्दसे राज्य कर, हम अपने धर्माचरणका चौथा हिस्सा भी तुझे देंगे।" इसको स्वीकार कर मनु राज्य करने लगे। अधर्मी और शत्रुको दण्ड देकर धर्मके समान उसने राज्य किया। इस कथामें

इकरार सम्बन्धी यह कल्पना की गयी है कि राजा धर्मके अनुसार प्रजापर राज्य करे तथा पापियोंको दण्ड दे और प्रजा उसे कर (लगान) दे। मुख्यतः जमीनकी पैदावारका दशमांश और पशु तथा व्यापार आदिका पचासवां हिस्सा दे। यह मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं कि प्राचीन कालमें भारतके राजा और प्रजा दोनों इस प्रतिज्ञाके अनुसार चलते थे और राजा लोग इससे अधिक कर नहीं लेते थे।"

उपरोक्त अवतरण*से हिन्दूशास्त्रोंके अनुसार राजा और प्रजामें इकरारकी क्या कल्पना है, इस बातका ज्ञान पाठकोंको हो गया होगा। अब हम पाश्चात्य लेखकोंकी दृष्टिसे भी इस विषयपर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

महाभारतकी तरह कई पाश्चात्य विद्वानों और राजनीतिज्ञ महानुभावोंने भी यही प्रतिपादित किया है कि प्रजा और राजाके इकरारहीसे राज्यसंस्थाकी उत्पत्ति हुई। प्रजाने राजाओंको कर और अन्य प्रकारकी सहायता देना तथा राजाकी हुकूमत मानना स्वीकार किया, और इसके बदलेमें राजाने प्रजाकी रक्षाका इकरार किया। पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि संसारकी अधिकांश राज्यक्रान्तियां इसी इकरार-सिद्धान्तके कारण हुईं। जहां प्रजाने देखा कि राजा अपने इकरारके मुताबिक कर्तव्य नहीं कर रहा है, उस राजाके प्रति प्रजाके भाव दूषित

* यह अवतरण मैंने श्रीयुत पं० माधवराव सप्रेके हिन्दी अनुवादसे कृतज्ञतापूर्वक लिया है।

होने लगते हैं और एक समय आता है, जब येही भाव क्रान्तिका रूप धारण कर लेते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य लेखकोंमें जिन्होंने इकरार-सिद्धान्तके विषयपर कुछ लिखा है, सबसे पहला लेखक रिचार्ड हुकर (Richard Hooker) है। यह इङ्गलैण्डका पादरी था। इसने सन १५९४ में "Ecclesiastical Policy" नामक ग्रंथ लिखा। इसमें इसने पोपोंके धार्मिक अधिकारोंकी रक्षा करते हुए इकरार-सिद्धान्तका समर्थन किया है। इस समय इङ्गलैण्डके लोगोंकी मनोवृत्ति कुछ ऐसी होने लगी थी कि वे इस प्रकारका कोई सिद्धान्त बड़ी उत्सुकतासे ग्रहण कर सकते थे, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि राजाके अधिकार प्रजाकी सम्मतिपर निर्भर करते हैं, राज्यसंस्थाकी उत्पत्ति प्रजाहीके द्वारा हुई। लोगोंने इस सिद्धान्तको उत्सुकतासे स्वीकार किया, इसके बाद और भी कितने ही बड़े २ पाश्चात्य राजनीतिक लेखकोंने इस विषयपर लेखनी उठायी। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक ग्राटियस (Grotius) ने अपने विख्यात ग्रन्थ "Law of War and Peace" में, मिल्टनने अपने "Tenure of Kings and Magistrate" में, फ्यूकेन डार्फने अपने "Law of nature and of Nations" में, स्पाइन्शाने अपने "Tractatus Politics" में और इन सबसे विशेष थामस हाब्सने अपने "Leviathan" में इस इकरार-सिद्धान्तकी बड़े जोरसे पुष्टि की है। इसी समय सुप्रसिद्ध राजनीतिक लेखक लाक हुए जिन्होंने

"Two Treatises of Government" नामक अपने ग्रन्थमें इस सिद्धान्तको विवेचनात्मक पुष्टि की है। आपके एक सदी बाद सुप्रसिद्ध पाश्चात्य तत्त्वज्ञ रूसो हुए, जिन्होंने अपने "Le Contrat Social" ग्रंथमें विशेष तौरसे इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। आपने इस ग्रंथके द्वारा इस सिद्धान्तको अत्यन्त लोकप्रिय कर दिया।

अमेरिकामें भी वहांकी राज्यक्रान्तिके समय, यह सिद्धान्त लोगोंके हृदयोंपर जोरदार अधिकार जमाये हुए था। अमेरिकामें जिस समय राज्यक्रान्ति हुई, उस समय अधिकांश लोगोंका यही ख्याल था कि "इकरार ही अधिकारकी मूलभित्ति है। लोगोंकी सम्मतिहीसे राज्यसंस्था अस्तित्वमें आयी है। किसी सरकारको यह हक नहीं है कि वह उन लोगोंसे जबरदस्ती अपनी हुकूमत मनवावे जिसकी स्थापनामें उनकी सम्मति नहीं है।" इस प्रकारके ख्याल क्रान्तिके समय अमेरिकामें फैले हुए थे। अगर यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उस समय ये बातें धार्मिक सिद्धान्तोंकी तरह मानी जा रही थीं।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदीमें इस सिद्धान्तका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ा हुआ दीखता है। यहांतक कि इंग्लैण्डकी रानी मेरीको यह स्वीकार करना पड़ा था कि "राज्यशक्ति और कुछ नहीं, केवल लोग और राजाके बीचका इकरार है।" इसी बातको, इसी सिद्धान्तको जार्ज बुचाननने अपनी पुस्तक "Rights of Kings among Scots" में बड़ी प्रबलतासे पुष्ट किया है।

आगे चलकर और भी कितने ही महान् लेखकोंने इस सिद्धान्तका समर्थन करते हुए राज्य शक्तिकी स्थिति इकरारके इसी सिद्धान्त-पर मानी है।

इकरार-सिद्धान्तकी समालोचना

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं सोलहवीं, सत्रहवीं सदीमें इकरार-सिद्धान्त खूब लोकप्रिय हुआ। अठारहवीं सदीमें भी इसकी खूब बोलबाला हुई। इन तीनों सदियोंमें विख्यात २ विद्वानोंने इसपर कलम उठायी। जनताकी तो बात ही क्या, पर खुद राजाओंतकपर इस सिद्धान्तका प्रभाव पड़ा। पर उन्नीसवीं सदीका प्रभावशाली राजनीतिक मत इसके अनुकूल नहीं रहा। ल्यूडविग (Ludwig), जेरमी बेन्थाम, सर हेनरी मेन, थामस हील ग्रीन, एडमण्ड बर्क, प्रो० ब्लन्शले, सर फ्रेडरिक पालाक, प्रो० रिची (Ritchie) आदिने इस इकरार-सिद्धान्तका खण्डन किया। उन्होंने इसकी निस्सारता दिखलानेका प्रयत्न किया। बेन्थामने तो लिखा है कि यह सिद्धान्त बिलकुल भित्तिहीन है। इसे कोई आधार नहीं अतएव इसपर व्यर्थकी सिरखपी करना फजूल है। सर हेनरी मेनने लिखा है—राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धका यह इकरार-सिद्धान्त व्यर्थ और निकम्मा है। इसी प्रकार अन्य महाशयोंने भी इसकी कड़ी समालोचना की है।

इन समालोचकोंने इस सिद्धान्तके खिलाफ़ कुछ दलीलें देकर इसकी निस्सारता प्रकट करनेका प्रयत्न किया है।

इनमेंसे कितनोंहीका कथन है कि यह सिद्धान्त इतिहासके अनुकूल नहीं। इतिहासमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें यह बात हो कि अमुक अमुक राजा और प्रजामें अमुक अमुक इकरार हुआ है, और इसी इकरारपर राज्यसंस्थाकी उत्पत्ति हुई है। सुप्रसिद्ध आंग्लइतिहासज्ञ, ग्रीन, महोदयका कथन है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जावे तो यह सिद्धान्त केवल कपोल कल्पना (Fiction) है। दूसरी बात यह कही जाती है कि यह सिद्धान्त बुद्धिमें भी बराबर नहीं जमता क्योंकि जब मनुष्य बिलकुल निसर्ग अवस्थामें था, क्या उस समय उसके दिमागमें इस प्रकारके इकरारकी कल्पना आ सकती थी। इस प्रकारके कुछ और भी कारणोंको लेकर कितने ही पाश्चात्य लेखकोंने इस इकरार-सिद्धान्त (Compact Theory) की कड़ी समालोचना की है। ग्रंथके बढ़ जानेके भयसे हम इस विषयका जो कुछ थोड़ासा दिग्दर्शन हुआ है उसीसे संतोष मानकर इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

राज्य उत्पत्तिका पैतृक सिद्धान्त।

प्राचीन समाज-संगठन-विज्ञानके अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान जे० एफ० मेकलेनन महोदयका कथन है—"राजकीय संस्थाकी उत्पत्तिके विषयमें जो पैतृक सिद्धान्त है, उसका आशय यह है कि कुटुम्बके विकासका परिणाम समाजमें परिणत हुआ है और पहले पहल एक मनुष्य, एक स्त्री और कुछ बच्चोंके संयोगसे

कुटुम्ब-संस्थाका आरम्भ हुआ। पहले पहल एक ही कुटुम्ब होगा। विवाह आदि संबन्धसे नये नये कुटुम्बोंकी उत्पत्ति होने लगी। बढ़ते बढ़ते ये जातीय दलोंमें, जातीय दलोंसे समाज आदिमें परिणत होने लगे। यहां यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि इस प्रारम्भिक समाज-व्यवस्थामें घरका जो बड़ा बूढ़ा होता था, उसीकी हुकूमतमें सब कुटुम्बके लोगोंको चलना पड़ता था। लोगोंके बढ़ जानेसे जब कुटुम्ब विभक्त होते थे तब भी जो सबसे बड़ा आदमी होता था, सबको उसके आज्ञाधीन रहना पड़ता था। जब समाजका विकास होने लगा और समाजमें सुव्यवस्थाकी आवश्यकता होने लगी, तब उन्होंने इस कौटुम्बिक पद्धतिहीपर राज्यपद्धतिकी नींव डाली अर्थात् जिस प्रकार कुटुम्बमें वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध मनुष्य कुटुम्बके सिरताज और रक्षक समझे जाते थे वैसे ही समर्थ, योग्य, प्रतापशाली और अनुभवी मनुष्यको वे अपना सरदार बना लेते थे और सब उसीके आज्ञाधीन चलते थे। इसी पद्धतिके विकाससे राजकीय संस्थाकी उत्पत्ति हुई अर्थात् इस सिद्धान्तानुसार राज्यकी उत्पत्ति पैतृकसिद्धान्तपर निर्भर करती है। यहां यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि जिस प्रकार कुटुम्बमें पुरुषोंहांमेंसे मुखिया होता था, वैसे ही कुछ अन्तरको लिये हुए राज्यकी भी परिपाटी चली। बस यही पैतृकसिद्धान्तका सारांश है। इस विषयपर जहां कुछ पाश्चात्य विद्वानोंका अनुकूल मत है वहां कितनोंका प्रतिकूल भी है। जो लोग इसके प्रतिकूल हैं, उनका

कथन है कि इस सिद्धान्तकी स्थिति इतिहासपर नहीं है। उनका कथन है कि प्राचीन कालमें केवल पुरुष-प्रधान कुटुम्ब ही न थे, वरन् स्त्री-प्रधान कुटुम्ब भी थे, अर्थात् ऐसे कुटुम्ब भी थे या हैं जिनमें पुरुषके स्थानमें स्त्री कुटुम्बकी मुखिया रहती थी और स्त्रियोंके सम्बन्धसे कुटुम्ब पहचाना जाता था। इसलिये केवल यह कहना कि पुरुष ही सदा कुटुम्बका मुखिया होता आया है और इसी कौटुम्बिक पद्धतिके विकासपर राज्य-उत्पत्ति हुई है, सर्वांशमें सत्य नहीं।

कुछ भी हो, पैतृकसिद्धान्तको अधिक पुष्टि मिल रही है और संसारके इतिहासको अवलोकन करनेपर या समाजरचनापर विचार करनेपर पैतृकसिद्धान्तकी ही ओर अधिक ध्यान आकर्षित होता है।

शक्तिसिद्धान्त।

कई लेखक राज्य-उत्पत्तिका कारण शक्ति समझते हैं। उनका कथन है कि प्राचीन कालमें कोई शक्तिशाली मनुष्य अपनी भौतिक शक्तिके बलपर उन लोगोंपर अपना अधिकार जमा लेता था, जो राजकीय रूपसे असुसंगठित (Politically unorganized) होते थे, और उनपर अपनी हुकूमत चलाता था। इस प्रकार वह अपना राज्य स्थापित कर लेता था। इसी प्रकार बहुतसे राज्योंकी उत्पत्ति हुई। सुप्रसिद्ध राजनैतिक आचार्य ह्यूम महोदयने अपने "Original Contract" में लिखा

राज्यसम्बन्धी सावयव-सिद्धान्त

कई पाश्चात्य राजनीतिविशारदोंका कथन है कि राज्यके प्रधान गुणोंमेंसे सावयव-एकता (Organic unity) भी एक है। सावयव-एकता एक ऐसा शब्द है, जिसका ठीक २ अर्थ हमारे बहुतसे पाठक नहीं समझेंगे, अतएव यहां हम इसका खुलासा कर देना आवश्यक समझते हैं। हमारा शरीर भिन्न भिन्न अवयवोंका एक सुसंगठित संघ है। शरीरमें जितने अवयव हैं, उन सबका एक दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां किसी अवयवको चोट लगी कि उसका असर शरीरके सब अवयवोंपर होता है। पैरमें कांटा लग जानेसे, हाथमें सुई चुभ जानेसे हाथ और पैरको तो दुःख होता ही है, पर इनके साथ २ शरीरके सब अवयवोंपर भी इसका प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार किसी अन्य अवयवमें चोट लगनेसे केवल उसीको दुःख नहीं होता, पर शरीरके अन्य हिस्सोंको भी, उसके साथ २ न्यूनाधिक दुःख होता है। देखा गया है कि कभी २ पैरमें जूतेके फोड़ेसे केवल पैरहीको तकलीफ़ नहीं होती, पर इसका सारे शरीरपर असर होकर मनुष्यको ज्वरतक चढ़ जाता है। इन सब बातोंसे यह प्रकट होता है कि शरीरके सब अवयवोंमें एकता है, इन सबका आपसमें, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक अवयवके सुख दुःखका प्रभाव दूसरे अवयवपर पड़े बिना नहीं रह सकता। शरीरके इन अवयवोंकी इस घनिष्ठ एकताहीका नाम सावयव-एकता (Organic unity) है।

कितने ही समाजशास्त्रवेत्ताओं तथा राजनीतिके आचार्योंने शरीरके इन अवयवोंकी एकताका मिलान समाज या राज्यरूपी शरीरके अवयवोंकी एकतासे किया है, और उन्होंने इस सम्बन्धमें एक सिद्धान्त स्थिर किया है जिसे समाज या राज्यकी सावयव-एकता (Organic Theory of the Society or State) कहते हैं। उनका कथन है कि उन लोगोंका समुदाय जो परस्पर एकता-के सूत्रमें बंधे हुए नहीं हैं तथा जिनका आपसमें सम्बन्ध नहीं है, समाज या राज्य नहीं कहला सकता। इस प्रकारके विशृंखल समु-दायसे समाजका शरीर-संगठन नहीं होता। इनका कहना है कि जिस प्रकार विशृङ्खल और असम्बद्ध अवयवोंसे शरीरका सङ्गठन नहीं हो सकता, उसी प्रकार मनुष्यरूपी उन अवयवोंसे समाज या राज्यका सङ्गठन नहीं हो सकता जो किसी न किसी प्रकारकी एकताके सूत्रसे बद्ध नहीं हैं तथा जिनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरके संगठनके लिये जिस प्रकार उसके भिन्न २ अवयवों-की एकताकी आवश्यकता है, उसी प्रकार कितने ही लेखकोंके मतानुसार समाज या राज्यरूपी शरीरके संगठनके लिये उसके अवयवरूप सदस्योंकी एकताकी आवश्यकता है; पर इस विष-यमें कई भिन्न २ मत हैं। समाजशास्त्र या राजनीतिके कितने ही पण्डित इस सम्बन्धमें अद्वैतवाद (Monistic Theory) को सामने लाते हैं और कहते हैं कि सुसंगठित समाज (Orga-nized Society) एक ऐसा समुदाय है, कि जिसमें उन लोगोंका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है जिनसे यह समाज या

समुदाय बना है या संगठित हुआ है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी पदार्थके परिमाणुओंका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता, उनका अस्तित्व उस पदार्थमें लीन हो जाता है, ठीक यही दशा समाजके सदस्योंकी होती है। उनका व्यक्तित्व, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व विराट शरीर समाजमें लीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा सिद्धान्त है जिसका नाम वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त 'Monadnistic Theory' है। यह सिद्धान्त उपरोक्त सिद्धान्तके विपरीत है। इसका मन्तव्य यह है कि समाज और कुछ नहीं, वह लोगोंका या लोगोंके समुदायका एक जुट (Aggregation) है जिसमें कोई वास्तविक एकता नहीं रहती। हर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य या मनुष्योंसे प्राय: स्वतंत्र रहता है। समाजका उसपर कुछ ऋण नहीं। किसी आकस्मिक् समीपता (Accidental Uxtaposition) को छोड़कर वह अपने आसपासवालोंसे अलग या स्वतंत्र रहता है। इन दो सिद्धान्तोंके बीचका एक और सिद्धान्त है जिसे 'Dualistic conception' कहते हैं। इस सिद्धान्तका यह आशय है कि व्यक्तिका समाजके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध तो नहीं है पर कुछ सम्बन्ध तो अवश्य है अर्थात् व्यक्तिको कुछ अंशोंमें समाजके आश्रित रहना पड़ता है अर्थात् इस सिद्धान्तके मन्तव्यानुसार न तो व्यक्तिका अस्तित्व समाजमें विलीन ही है और न वह समाजसे या अपने आसपासके सामाजिक वातावरणसे बिलकुल जुदा या स्वतंत्र ही है।

अब हम सावयव-सिद्धान्त (Organic Theory) पर

वापस आते हैं। इस सिद्धान्तके आचार्य्योंने मनुष्य-शरीरके साथ समाज-शरीरकी तुलना करनेका प्रयत्न किया है। इन्होंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि शरीरके रक्तबिन्दुओं (Cells) का शरीरके साथ जो सम्बन्ध है ठीक वही सम्बन्ध मनुष्योंका समाजके साथ है।

जैलिनेक (Jellinek) नामक एक विद्वानका कथन है कि राज्यसे सम्बन्ध रखनेवाला यह सावयव-सिद्धान्त बहुत ही पुराना और लोकप्रिय है। सुप्रसिद्ध ग्रीकतत्त्वज्ञानी या राजनीतिशास्त्रका प्राचीन आचार्य्य प्लेटोने अपने 'डी रिपब्लिका' (De Republica) नामक ग्रन्थमें रिपब्लिककी तुलना एक विराट मनुष्यसे की है और बड़े जोरसे यह प्रतिपादन किया है कि सर्वोपरि सुव्यवस्थित सर्वतन्त्र शासन (Common wealth) वही है, जिसकी बनावट तत्त्वतः मनुष्य-शरीरकी बनावटसे समानता रखती है। प्लेटोने कहा है कि जिस प्रकार शरीरके सदस्यरूप किसी अवयवको चोट लग जानेसे सारे शरीरको वेदना होती है और वह उस दुःखित अवयवके साथ सहानुभूति दिखलाता है, ठीक उसी प्रकार समाज जिन व्यक्तियोंसे बना है, उनमेंसे किसीको चोट पहुंचनेसे सारे समाजको धक्का लगता है। अत्यन्त विख्यात ग्रीक पण्डित सिसरोने राज्य (State) और व्यक्तिकी तुलना की है। उन्होंने राज्यके प्रधानकी उस आत्मासे तुलना की है जो मानव-शरीरको सञ्चालित करती है। इसी प्रकार अन्य कई

लेखकोंने भी इसी प्रकारको तुलना की है। अठारहवीं सदीके बहुतसे पाश्चात्य लेखकोंने तो इस तुलनाको बड़ा महत्त्व दिया है। हां, इसके पश्चात् फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिसे इस सिद्धान्तका महत्व घटने लगा और इस विचारको विशेष अनुमोदन मिलने लगा कि राज्य और कुछ नहीं केवल एक कृत्रिम चीज़ है। इससे सावयव-सिद्धान्तको धक्का पहुंचने लगा। पर उन्नीसवीं सदीके मध्यमें फ्रान्सके तत्त्वज्ञानियोंके इस विचारके खिलाफ प्रतिक्रिया शुरू हुई और इस विचारको विशेष प्रोत्साहन मिलने लगा कि राज्य एक शरीर (Organism) है। इस समय लोगोंमें इस सिद्धान्तका बहुत मोह बढ़ने लगा। जर्मन राजनीतिविशारद ब्लंशलेने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (Theory of the State) में सावयव-सिद्धान्तको बड़ी योग्यतासे पुष्ट किया है। उसने दिखलाया है कि राज्य मानवी शरीर (Human Organism) का मानों प्रतिबिम्ब है। इन दोनोंमें सादृश्य है। जिस प्रकार शरीरके सदस्य (Organs) कार्य्य और जीवन-क्रियायें रहती हैं वैसे ही राज्यमें भी रहती हैं। उसने राज्यकी बनावट (Structure) और जीवनक्रिया (Life process) की मानवीय शरीरके साथ जो तुलना की है, वह अत्यन्त मनोरञ्जक है। उसने दिखलाया है कि राज्य केवल निर्जीव कृत्रिम मशीन नहीं है बलिक वह एक सजीव, बौद्धिक तथा सेन्द्रिय पदार्थ (being) है। उसने इस बातको सिद्ध करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार तैलचित्र (Oil painting) तेलके बिन्दुओंके समुदायसे कुछ

अधिक है, जिस प्रकार मनुष्य रक्तबिन्दु या अस्थियोंके संमिश्रणसे कुछ अधिक है वैसे ही राज्य राष्ट्री लोगोंके केवल समुदायसे तथा बाहरी कायदे कानूनके संग्रहसे कुछ अधिक है।

जिस प्रकार प्राणि-शरीर (Animal organism) उसके सजीव अवयवों तथा रक्तबिन्दुओं (Cells) से बना है और जिस प्रकार ये अवयव एक दूसरेपर निर्भर करते हुए अपना जुदा २ कार्य्य करते हैं, ठीक यही हालत राज्यरूपी शरीरकी है। यह शरीर व्यक्तिरूप अवयवोंसे बना है और इनका भी ठीक वही हाल है, जो शरीरके अवयवोंका है। शरीरके अवयवोंकी तरह ये व्यक्ति भी, जो राज्य-शरीरके अवयव हैं, अपना जुदा २ काम करते रहनेपर भी एक दूसरेपर या समाजपर निर्भर करते हैं। इनका आपसमें सम्बन्ध है। क्या बनावटमें, क्या क्रियामें और क्या अन्य बातोंमें मनुष्यशरीरसे समाजशरीरकी समता है। दोनोंहीका अस्तित्व कृत्रिम साधनोंके बजाय नैसर्गिक साधनोंसे शुरू होता है। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च तत्वज्ञानी रूसोने मानवीय शरीरके साथ राज्यकी जो तुलना की है, वह बड़ी मनोरंजक है। मनुष्यके सिरकी तुलना राज्यकी सर्वोपरि सत्तासे, मानवीय मस्तिष्ककी राज्यके कानून और रीति रिवाजोंसे, इच्छाओंकी जजों और मैजिस्ट्रेटोंसे व्यापार, खेती और उद्योगधन्धोंकी मुंह और पेटसे तथा सार्वजनिक अर्थकोशकी रक्तके साथ की है। इंग्लैण्डके संसारके प्रख्यात दार्शनिक विद्वान् महामति हर्बर्ट स्पेन्सरने अपने समाज-

शास्त्रके मूलतत्त्व (Principles of Sociology) में सुसंगठित समाज (Organized Society) और प्राणि-शरीरकी बड़ी ही सुन्दर तुलना की है। उन्होंने यह दिखलाया है कि क्या प्राणि-शरीर और क्या समाज-शरीर दोनोंहीका आरम्भ पहले पहल कली (Germs)के रूपमें आरम्भ होता है। इन दोनोंपर समानरूपसे निरन्तर वृद्धि क्रिया होती है। इनके अंगोंका जैसे २ विकास होता जाता है वैसे २ उनका असादृश्य बढ़ता जाता है और उनके डीलडौल (Structure) में विशेष जटिलता आती जाती है। आप जानते हैं, सबसे क्षुद्र प्राणीकी क्या स्थिति रहती है। वह जो कुछ है सो उसका पेट, श्वास, नलिका या पसली है। इनके अतिरिक्त उसके शरीर-की बनावटमें कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार समाज, उसकी अत्यन्त बाल्यावस्थामें क्या था? वह केवल बहादुरों, शिकारियों और भद्दे औजार बनानेवालोंका समुदाय ही था। पीछे जैसे जैसे समाजका विकास होता गया और उसकी जटिलता बढ़ती गयी वैसे वैसे उसमें श्रमविभाग होने लगा। हमारा हिन्दुओंका जातिभेद इसी श्रमविभागपर निर्भर करता है। मतलब यह है कि जिन तत्त्वोंसे प्राणियोंके शरीरका विकास होता है उन्हीं तत्त्वोंके अनुसार समाजशरीरका भी विकास होता है। पर इन सब बातोंकी समानता दिखलाते हुए भी स्पेंसर महोदयने प्राणि-शरीर और समाज-शरीरका एक तुलनात्मक भेद दिखलाया है। आपका कथन है कि प्राणि-शरीर और राज्य-

रूपी शरीरमें एक मार्केका भेद है। प्राणि-शरीरकी बनावट आपके मतानुसार सुसंगठित है अर्थात् उसके एक एक अङ्ग परस्परमें बड़े गहरे सम्बन्धके साथ एक दूसरेके साथ सम्बद्ध हैं। इसके विपरीत समाजशरीर असम्मिश्रित है, अर्थात् उसके अंग स्वतंत्र होनेसे कम ज्यादा बिखरे हुए हैं। वे इस भेदको तात्त्विकभेद स्वीकार करते हैं। पर साथ ही साथ आप यह भी मानते हैं कि इस भेदके रहते हुए भी दोनोंकी तुलना की जा सकती है। क्योंकि आप कहते हैं कि समाजशरीर असम्मिश्रित होनेपर भी साराका सारा चैतन्यमय है। स्पेन्सर महोदयने उपरोक्त भेदके अतिरिक्त प्राणि-शरीर और समाज-शरीरमें एक और भेद दिखलाया है। आपका कथन उद्देशोंकी भिन्नता है। मनुष्य-शरीरमें उसके जुदे २ अवयवों का उद्देश अपना अपना काम करते हुए सारे शरीरकी सेवा करना रहता है अर्थात् उनका कोई स्वतन्त्र अस्तितत्व नहीं रहता। उनका सारा दारोमदार सारे शरीरके लाभपर निर्भर करता है। यह बात स्पेन्सर महोदयके मतानुसार समाज-शरीरके लिये लागू नहीं की जा सकती। आपके विचारानुसार समाजका अस्तित्व उसके सदस्योंके लाभके लिये है, सदस्यों या मनुष्योंका अस्तित्व समाजके लिये नहीं। समाज-शरीर और प्राणि-शरीरके इसी भेदपर स्पेन्सर महोदयने अपने व्यक्ति-वाद विषयक राजनीति-विज्ञानकी नींव खड़ी की है। स्पेन्सर महोदय व्यक्तित्ववाद (Individualism) के पूरे पूरे

हिमायती थे। कितनेही विद्वानोंका कहना है कि स्पेन्सर महोदयका सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) उनके उपरोक्त व्यक्तित्ववादके सिद्धान्तके साथ मेलजोल नहीं खाता।

इसी प्रकार (अल्बर्ट शेफले) नामक सुप्रख्यात आस्ट्रियन विद्वान् एवं कानून-पण्डित (Jurist) ने प्राणि-शरीर और समाज-शरीरकी तुलना करनेमें बड़ा परिश्रम और अध्ययन किया है। आपने आस्ट्रियन भाषामें दी स्ट्रक्चर एन्ड लाइफ आफ दी सोशल बाड़ीThe structure and life of the Social Body नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थमें बड़ी ही विद्वत्ता और विस्तारके साथ ग्रन्थलेखक महोदयने प्राणि-शरीर और समाज-शरीरकी शरीर-शास्त्र, जीव-विज्ञान और मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे तुलना कर दोनोंमें आश्चर्यकारक सादृश्य दिखलानेका प्रयत्न किया है। आपने दिखलाया है कि समाज एक शरीर है जिसका जीवनतत्त्व या अंग मनुष्य है। आपने इस ग्रन्थमें जिस अपूर्व विद्वत्ता और आश्चर्यकारक खोजका परिचय दिया है, वह आपके अगाध ज्ञान, अपूर्व प्रतिभा और प्रशंसनीय अन्वेषण-शक्तिका पता देता है। आपहीके समान पाल लीलिन फेल्ड नामके रूसी समाज शास्त्रवेत्ताने इन दोनोंमें समानता दिखलानेमें अपूर्व प्रतिभा-शक्ति, गम्भीर गवेषणाशक्ति और विद्वत्ताका परिचय दिया है। आपने एक ग्रन्थ लिखा है, जिसका नाम " Thoughts Concerning the social science of the Future" है। इसके पांच बड़े २ भाग हैं।

आपने सावयव सिद्धान्तका बड़ी ही योग्यतासे समर्थन किया है। आपने इस सिद्धान्तका जिस मार्मिकतासे खुलासा किया है, वह आश्चर्यजनक है। आपने समाजके मनोविज्ञान (Social Psychology) और समाज-शरीरका बड़ाही सुन्दर स्पष्टी-करण कर प्राणि-शरीरके साथ उसकी बड़ी ही अच्छी तुलना की है। कई बातोंमें यह स्पेन्सर और शेफ्ले (Schaffle) से भी आगे बढ़ गया है। इसी तरह आगस्ट कोमट (August Comte), टार्ड (Tarde) लिटारन्यू (Letourneau), डि ग्रेट (De Great), फौले (Fowllee) और रनवर्म्स (Rene Worms) आदि फ्रेञ्च तत्त्वज्ञानियोंने तथा कुछ जर्मन दार्शनिकोंने भी सावयव-सिद्धान्तको पुष्ट और समर्थन करनेका प्रयत्न किया है। इनमेंसे फ्रेञ्च तत्त्वज्ञानी और समाजशास्त्रवेत्ता वर्म्स तो इस सिद्धान्तका सबसे अधिक हिमायती है। उसने कहा है कि समाज-शरीर और प्राणि-शरीरमें आश्चर्यकारक-समानता पायी जाती है।

सावयव-सिद्धान्तकी समालोचना

यह तो हुईं उन महानुभावोंकी बातें, जो सावयव सिद्धान्त-के जनक, पुष्टिकर्ता या हिमायती हैं। अब उन लोगोंकी बातें भी सुन लीजिये, जो इसके विरोधी हैं। इन महानुभावोंका कथन है कि प्राणि-शरीरके तत्त्वोंकी और सुसङ्गठित समाज-शरीरके तत्त्वरूप मानव-प्राणियोंकी तुलना करना सर्वांशमें, ठीक नहीं।

हां; इन दोनोंमें कुछ समानता जरूर है, पर वह इतनी नहीं है जिससे दोनोंकी पूरी २ तुलना की जा सके। प्राणि-शरीरमें जो रक्तबिन्दु (Cells) हैं वे केवल पुद्गल (Matter) के टुकड़े हैं, जिनका कि कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। इनमें कोई स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं है। ये केवल सारे शरीरके जीवनकी सहायता या उत्तेजना करते हैं। अगर ये शरीरसे जुदा कर दिये जावें तो इनका कोई मूल्य नहीं। इसके विपरीत समाज-शरीरके मनुष्यरूप तत्त्वोंकी यह हालत नहीं है। इनमें स्वतन्त्र बुद्धि है, इनमें अपने निजकी इच्छाशक्ति है, इनमें दूरदृष्टि है, इनमें आत्मसंयमकी शक्ति है, इनमें स्वतन्त्र जीवन और गति है, इनमें उस सारे शरीरसे (जिसके कि ये अङ्ग हैं) स्वतन्त्र आधिभौतिक जीवन है। हर एक व्यक्ति अपनी इच्छाके अनुसार अपना जीवन ढालनेकी शक्ति रखता है। उसके कार्य समाजके मध्यवर्ती अवयवोंसे सञ्चालित नहीं होते। इसके विपरीत प्राणि-शरीरके रक्तबिन्दुमें इस प्रकारकी शक्तियां नहीं हैं। इनमें व्यक्तिके समान गुण, बुद्धि, प्रतिभा, स्वतन्त्र गति आदि नहीं हैं। इससे समाज-शरीरके जीवन रूपतत्त्वोंकी प्राणि-शरीरके तत्त्वोंके साथ वास्तविक तुलना नहीं हो सकती। जो कुछ तुलना हो सकती है, उसमें कृत्रिमताका भाव अधिक है। एक बात और है, वह यह है कि व्यक्ति समाजसे अलग होकर भी व्यक्ति ही रह सकता है पर यह बात प्राणि-शरीरके तत्त्वोंके लिये नहीं कही जा सकती। शरीरसे अलग होनेपर इनका अस्तित्व शरीर-तत्त्वके

रूपमें नहीं रहता। इसके अतिरिक्त वृद्धि, विकास, विनाश और मृत्युके जो नियम प्राणि-शरीरमें काम करते हैं वे राजनीतिकी दुनियामें नहीं करते। इस प्रकारकी कई बातें हैं, जिनसे प्राणि-शरीर और समाज-शरीरकी तुलनाका कार्य असंभव हो जाता है और सावयव-सिद्धान्तकी कमजोरी प्रकट होती है। कई आधुनिक राजनीतिज्ञोंका तथा समाज-शास्त्रवेत्ताओंका कथन है कि इन दोनोंकी कृत्रिम बाजुओंकी तुलना कर जो फल निकालनेका प्रयत्न किया जाता है वह ठीक नहीं, क्या इससे यह सिद्ध करना है कि व्यक्तिका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और राज्य या समाजमें वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भूल जावे और व्यक्ति-वादका अन्त हो जावे।

राज्यके आवश्यक तत्त्व।

लोग।

राज्यका भौतिक शरीर जिन तत्त्वोंसे सङ्गठित होता है, उनमें सबसे प्रथम और आवश्यक तत्त्व "लोग" हैं। जो लोग राज्यमें बसते हैं, या जो लोग राज्यके सदस्य हैं, उनके दो विभाग हो सकते हैं (१) नागरिक और (२) प्रजाजन। नागरिक उन्हें कहते हैं, जिनकी राज्यके शासनमें आवाज होती है अथवा जो मताधिकार रखते हैं। प्रजाजन उन्हें कहते हैं जिनकी राज्यशासनमें कोई आवाज नहीं होती, जिन्हें मताधिकार नहीं रहते, जो केवल हुकूमतके पाबन्द रहते हैं। यहां यह ध्यानमें

रखना चाहिये कि हर एक नागरिक प्रजाजन होता है, पर यह आवश्यक नहीं कि हर एक प्रजाजन नागरिक हो। हर एक राज्यमें कई ऐसे विदेशी रहते हैं, जिन्हें उस राज्यमें नागरिकताके हक नहीं रहते। राज्य केवल उनकी रक्षाके लिये जिम्मेदार रहता है और इसके बदलेमें उन्हें उक्त राज्यकी हुकूमतका पाबन्द रहना पड़ता है।

हमें दुःखके साथ कहना पड़ता है कि भारतवासियोंको अपनी ही इस भूमिमें उसी ढङ्गसे रहना पड़ता है, जिस ढङ्गसे पाश्चात्य देशके किसी राज्यमें विदेशी रहते हैं। शासन-सुधार पास होनेके पहले भारतवासियोंकी राज्यमामलोंमें कोई आवाज नहीं थी। रिफार्म ऐक्टके पास हो जानेपर भारतवासियोंको थोड़ेसे टूटेफूटे अधिकार मिले हैं, पर उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतवासियोंको नागरिकताके आवश्यक अधिकार मिल गये। देशी राज्योंमें तो इससे भी गयी बीती हालत है। वहां प्रजा सदियोंसे अत्याचार सहती २ और निरंकुश शासकोंकी हुकूमतको मानती मानती इतनी आत्मविस्मृत हो गयी है कि वह यह भी नहीं जानती कि नागरिकता किस चिड़ियाका नाम है। वह तो निरंकुश शासकका हुक्म, चाहे वह न्याययुक्त हो या अन्याययुक्त हो, मानना जानती है। वहांके शासनमें प्रजा चूं भी नहीं कर सकती। वह केवल निरंकुश शासकोंकी भोग्य वस्तु समझी जाती है। कहनेका मतलब यह है कि अभी हमलोग प्रजाहीके रूपमें हैं, नागरिकके रूपमें नहीं। अस्तु।

प्रायः यह सवाल उठा करता है कि किसी समुदायको राज्यके रूपमें पहचाने जानेके लिये कमसे कम या ज्यादासे ज्यादा कितने लोगोंकी आवश्यकता होती है। संसारके इतिहासमें कभी ऐसी स्थिति नहीं आई जब सब राज्योंकी लोकसंख्या या भूमि समान हो गयी हो। प्रत्येक समयमें भिन्न २ राज्योंमें लोकसंख्या या भूमिविस्तारमें न्यूनाधिक रूपसे अवश्य ही अन्तर रहा है। किसी राज्यकी लोकसंख्या या भूमिविस्तार ज्यादा है तो किसीका कम है। किसी राज्यमें करोड़ों मनुष्योंकी बस्ती है तो किसीमें लाखों या हजारोंकी ही है। वहां भी ये राज्य कहलाते हैं। अतएव राजनीति-विज्ञानके आधुनिक लेखकोंने इस बातका कहीं भी निश्चय नहीं किया है कि इतनी २ लोकसंख्या या भूमिविस्तार होनेहीपर राज्य कहा जा सकता है।

हां राजनीति-शास्त्रके कुछ प्राचीन लेखकोंने मोटे तौरसे कुछ ऐसे तत्त्व निश्चित किये हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि राज्यके अस्तित्वके लिये इतनी लोकसंख्या और भूमिविस्तार आवश्यक है। प्राचीन कालके कुछ लेखकोंने तो इससे भी आगे पैर बढ़ाये हैं और उन्होंने एक तरहसे यह भी निश्चित कर दिया है कि राज्यमें कमसे कम या ज्यादासे ज्यादा अमुक २ लोकसंख्या और भूमिविस्तार निश्चितरूपसे होने चाहिये। प्राचीन समयके राजनीतिशास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य्य अरिस्टाटलने भी लिखा है कि किसी राज्यके सुसङ्गठनके लिये यह आवश्यक

है कि उसमें लोकसंख्या और भूमिविस्तारकी कुछ हद होनी चाहिये। उसने कहा है कि लोकसंख्या न तो बहुत ज्यादा होनी चाहिये और न बहुत कम ही। वह इतनी होनी चाहिये, जिससे वह स्वतः परिपूर्ण होकर अच्छी तरह शासित हो सके। सुप्रसिद्ध फ्रेन्च तत्त्ववेत्ता रूसो (Rousseau) ने राज्यके अस्तित्वके लिये लोकसंख्याकी कोई सीमा निर्द्धारित न कर यह कहा है कि राज्यके भूमिविस्तार और लोकसंख्यामें अमुक २ अनुपात (Proportion) होना चाहिये। अर्थात् इसके कहनेके अनुसार भूमिविस्तारके मानसे लोकसंख्या होनी चाहिये। एरिस्टाटलका कथन है कि राज्यकी माप (Measurement) दो बातोंसे की जा सकती है। एक उसके भूमिविस्तारसे और दूसरी उसकी लोकसंख्यासे। इन दो मापों (Measurements) के बीच जो सम्बन्ध है, उसीसे किसी राज्यकी वास्तविक इयत्ता (Dimention) जानी जा सकती है। भूमिविस्तार इतना होना चाहिये जिससे उसमें रहनेवाले लोगोंको खाने पीने और परवरिशके काफी साधन मिल सकें, और किसी भूमिपर इतने ही लोग बसने चाहिये जिनके लिये वह गुजारेके साधन पैदा कर सके। इससे आगे चलकर महामति एरिस्टाटलने इस बातपर बड़ी बहस की है कि राज्यकी लोकसंख्या जितनी अधिक होगी उसमें वैयक्तिक स्वाधीनता उतनी ही कम होगी। उसने उदाहरण देकर दिखलाया है कि अगर किसी राज्यमें दस हजार नागरिक बसते हैं

तो प्रत्येक नागरिकका राज्यसत्तामें $\frac{१}{१००००}$ वां हिस्सा रहेगा और उसी राज्यमें एक लाख नागरिकोंकी बस्ती हुई तो वह अधिकार दस हज़ारके स्थानमें एक लाख हिस्सोंमें बट जायगा अर्थात् दसगुना अंतर पड़ जायगा। इन सब बातोंको सोच समझ कर एक राजनीतिज्ञने यह अनुमान निकाला है कि राज्य-में लोकसंख्या इतनी होनी चाहिये, जिसमेंसे, शासनका काम करनेवाले तथा शासित किये जानेवाले और राज्य-सङ्गठनमें सहायता पहुंचानेवाले यथेष्ट संख्यामें निकल सकें। राज्यकी लोकसंख्याके परिवर्तनसे उसके अस्तित्व (Corporate) पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। लोकसंख्याके बढ़नेके कारण या तो नैसर्गिक रहते हैं या विदेशियोंका आगमन और घटनेके कारण लोगोंका बड़ी तादादमें विदेश जाना या अन्य कारण रहते हैं। पर जबतक इस संख्यामें इतनी कमी नहीं होती, जिससे कि राज्य-शकटका चलना असम्भव न हो जावे, तबतक राज्यका अस्तित्व बना रहता है।

भूमि या सीमा

भूमि-राज्यका एक आवश्यक अङ्ग है। सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित ब्लंशले (महाशय) का कथन है कि जिस प्रकार राज्यका वैयक्तिक आधार (Personal basis) उसमें बसनेवाले लोगोंपर है वैसे ही उसका नैसर्गिक आधार उस भूमिपर है, जिसमें वे लोग रहते हैं, जो उस राज्यके सदस्य

था प्रजागण हैं। जबतक लोगोंका कोई समुदाय किसी निश्चित भूमिको नहीं प्राप्त करता, तबतक वह राज्यकी संस्थापना नहीं कर सकता। जिन लोगोंकी पृथ्वीपर कोई निश्चित भूमि नहीं है समझना चाहिये उनका कोई निश्चित राज्य भी नहीं है। संसार-में अभी ऐसी कई अवनत जातियां हैं, जिनका कोई निश्चित वासस्थल नहीं है, और जो हमेशा इधर उधर घूमा करती हैं। राजनीतिक दृष्टिसे इनका कोई महत्व नहीं। लोगोंका कोई भी समुदाय तबतक राज्यके रूपमें नहीं पहचाना जा सकता जबतक कि वह किसी निश्चित भूमिपर अपना अधिकार न कर ले। राज्य-के अन्तर्गत कोई न कोई निश्चित भूमि अवश्य होनी चाहिये। लोग और भूमिके विना राज्यका अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

राज्य-भूमिमें अथवा राज्यसीमामें केवल जमीनहीका अन्तर्भाव नहीं होता। उसमें वे सब नदियां, तालाब, नहरें आदि आ जाती हैं, जो उस राज्यकी सरहदमें होती हैं। अगर इस भूमिसे लगा हुआ कोई समुद्र हो तो उसका तीन मीलतकका क्षेत्रफल भी उसमें समाविष्ट हो जाता है। समुद्रके अधिकार-के लिये राष्ट्रोंमें परस्पर क्या समझौता है, तथा इस महायुद्धके बाद उसमें किस प्रकार परिवर्तन हुए, इस विषयपर हम किसी अगले अध्यायमें स्वतन्त्ररूपसे लिखेंगे।

भूमिपर किसका अधिकार है ?

हमारे प्रचीन शास्त्रकारोंने स्पष्टरूपसे यह कहा है कि

राज्यका भूमिपर वैयक्तिक अधिकार नहीं। उसका उसपर केवल साधारण अधिकार है। महाभारतके पढ़नेसे मालूम होता है कि उस समय राज्यको यद्यपि जमीनका महसूल धान्यके रूपमें दिया जाता था, पर जमीनपर गांववालोंका ही स्वामित्व रहता था। गांवोंकी सीमायें निश्चित रहती थीं और उन गांवों-की सब उपजाऊ भूमिपर उन्हीं गांवोंके लोगोंका अधिकार रहता था। जमीनके अलग २ टुकड़े किये हुए थे और उनपर अलग अलग लोगोंका अधिकार था। उस समय लोग अपने अपने स्वामित्वकी भूमिका क्रय विक्रय स्वतन्त्रतासे कर सकते थे। भूमिका उस वक्त भी मूल्य था। भूमिदान बड़ा पुण्यकारक समझा जाता था। समझदार मनुष्यके लिये यह आवश्यक माना जाता था कि वह भूमि खरीद कर दान करे। तस्मात्क्रीत्वा महीं दद्यात्स्वल्पामपि विचक्षणाः (अनुशासन पर्व अ० ६७ श्लोक ३४)।

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता टाड महोदयने अपने प्रख्यात ग्रन्थ "राजस्थान" में मेवाड़का वर्णन करते हुए एक स्थानपर लिखा है कि वहां किसान ही भूमिके मालिक समझे जाते थे। वे भगवान मनुके "स्थाणुच्छेदस्य केदारम्" (अर्थात् जमीनका मालिक वही है, जो जंगल काटकर खेत तैयार करता है) के आधारपर किसानको जमीनका मालिक मानते थे। अब भी सारे राजपूतानेमें यह कहावत मशहूर है-भोगरा धनी राज हो; भोमरा धनी मां छां (अर्थात् राजा केवल करका अधिकारी है; भूमिके मालिक हम हैं)। सन् १८५१ में बंबई हाईकोर्टके चीफ

जस्टिस वेस्टाप तथा जस्टिस वेस्टने भूमिअधिकारके प्रश्नपर खूब वादानुवाद करके हिन्दू-धर्मशास्त्रके आधारपर यह सिद्ध करनेका सफल प्रयत्न किया था कि हिन्दू-धर्मशास्त्रके अनुसार पहले प्रजाका ही भूमिपर अधिकार था।* प्रीवी कौन्सिलने भी जस्टिस महोदयोंकी इस बातका अनुमोदन किया था। मौंट स्टुअर्ट एलफिंस्टनने भी अपने इतिहासमें इस बातको मुक्त-कण्ठसे स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानके धर्मशास्त्रानुसार भूमिपर प्रजाहीका अधिकार समझा जाता था।

यह तो हुई धर्मशास्त्रकी बात। अब यह देखिये कि मुसलमानोंके धर्मशास्त्रमें इस विषयपर क्या विचार किया गया है। कुरानके व्याख्याकार "हिडाया"का मत है कि प्रजा ही जमीनका मालिक है। कर्नल ह्वान्सकेनेडी महाशयका कथन है कि प्रायः सबही मुसलमान कानून-विशारदोंका भी यही मत था। सन् १६६८ में सम्राट औरङ्गजेबने एक घोषणापत्र निकालकर प्रजाका स्वामित्व स्वीकार किया था। सन् १७७५ में ईस्ट इण्डिया कंपनीने कलकत्तेकी कोठीके पास ३८ गांवोंकी तालुकेदारी खरीदनेके लिये तत्कालीन बादशाहके पास एक प्रार्थनापत्र भेजा था। इसपर बादशाहने उत्तर दिया था कि लोगोंसे खरीद लो, मेरा भूमिपर वैयक्तिक अधिकार नहीं है। मध्ययुगमें यूरोपमें, भूमि-

---

* Bombay High Court Reports Appendix Vol. XII

दुर्भाग्य है कि इस वक्त हिन्दुस्तानमें भूमिके मालिक राज्य या राजा [illegible]

का मालिक राज्य या राजा समझा जाता था, पर आजकल यूरोपमें, मध्ययुगकी तरह, भूमिका स्वामी राज्य या राजा नहीं माना जाता। अब वहां भूमि उसकी निजी और वैयक्तिक मिल्कियत नहीं समझी जाती।

इस वक्त पाश्चात्य संसारमें कोई राज्य या राजा मध्ययुगकी तरह भूमिको बेचकर गिरवो नहीं रख सकते, मानों वह उनकी निजकी जायदाद नहीं है। आधुनिक राज्य (Modern State) अपनी अधिकारकी भूमिका स्वामी प्रजाको समझते हैं अपनेको नहीं।

अगर किसी राज्यके देशपर या देशके किसी अंशपर दूसरे राज्यका अधिकार हो जावे तोभी आधुनिक सभ्य संसारके नियमोंके अनुसार भूमिपर उन्हीं व्यक्तियोंका अधिकार रहेगा, जिनका अधिकार पहले था।

राज्यसीमाका विस्तार

कितने ही लेखकोंका मत है कि राज्यकी सीमा जितनी ही विस्तृत और विशाल होगी उसके पास आत्मरक्षाके साधन उतने ही दृढ़ और उसका प्रभाव उतना ही विशाल होगा। पर इस विषयमें आधुनिक राजनीतिज्ञोंका बड़ा मतभेद है। वे कहते हैं कि यद्यपि यह बात कुछ अंशोंमें सच है पर सर्वांशमें नहीं। यदि ऐसा होता तो ज़ारके समयका विशाल रूसी साम्राज्य संसारमें सबसे अधिक बलवान और पराक्रमी होता; पर उसे जापान जैसे

क्षुद्र क्षेत्रफलके राज्यसे हार खानी पड़ी। जर्मन सेनाओंने रूसी सेनाओंको बुरी तरह पछाड़ा। चीन साम्राज्यकी भूमि अत्यंत विस्तृत होनेपर भी वह दुनियामें महा निर्बल राष्ट्र गिना जाता है। इन्हीं सब उदाहरणोंको सामने रखकर कितने हीं राजनीतिज्ञ केवल भूमिके अधिक विस्तारको महत्व नहीं देते। हां, भूमि-विस्तारके साथ २ योग्य संगठन, जातीय एकता, भौगोलिक परिस्थितिकी श्रेष्ठता और अन्य कितने ही साधनोंको राज्यकी महत्ताके लिये आवश्यक समझते हैं।

अब यह देखना है कि राज्यके अस्तित्वके लिये कितने भूमि-विस्तारकी आवश्यकता है। आधुनिक राजनीतिज्ञोंके मतानुसार जिस प्रकार इस बातका नियम नहीं है कि अमुक राज्यमें इतनी इतनी लोकसंख्या होनी ही चाहिये वैसे ही इस बातका भी नियम नहीं है कि अमुक अमुक राज्यमें अमुक अमुक विस्तारकी भूमि होनी चाहिये। क्या प्राचीन कालमें और क्या आधुनिक कालमें भिन्न भिन्न राज्योंमें भिन्न भिन्न लोकसंख्या और भूमि-विस्तार रहते आये हैं। जहां बीस करोड़ मनुष्यसंख्या तथा सुविशाल भूमिक्षेत्र रखनेवाला रूस जिस प्रकार राज्य कहलाता है, वैसे ही थोड़ी सी लोकसंख्या और भूमि रखनेवाला जापान भी राज्य कहलाता है। अमुक अमुक परिमाणमें लोकसंख्या या भूमि होने हीसे राज्य बनता है यह नियम नहीं है। हां आजकलके राजनीतिज्ञ इस बातकी तो आवश्यकता समझते हैं कि भूमिकी भौगोलिक एकताका ख्यालकर राज्योंका संगठन होना चाहिये अर्थात् उनके

विचारानुसार जलवायु और नैसर्गिक परिस्थितिकी समानताका इस विषयमें जरूर ख्याल रक्खा जाना चाहिये। इसके साथ साथ राष्ट्रीयताकी ओर भी नजर रखनी चाहिये। इन तत्वोंको ध्यानमें रखकर जब राज्योंका नये ढंगसे संगठन किया जायगा तभी संसारमें इन पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार स्थायी शांति हो सकेगी।

यद्यपि प्राचीन और आधुनिक कालके राजनीतिज्ञोंने इस बातके नियम नहीं बनाये हैं कि राज्यके अस्तित्वके लिये अमुक अमुक परिमाणकी लोकसंख्या या अमुक अमुक विस्तारकी भूमि होनी चाहिये पर रूसो या कौटिल्य प्रभृति कितने ही राजनीतिके आचार्योंने यह सिद्धांत अवश्य स्थिर किया है कि राज्यकी भूमि इतनी विस्तृत होनी चाहिये कि उसमें उस राज्यके लोग आसानीसे बस सकें और उससे अपने उदरनिर्वाह या आवश्यक आरामके साधन प्राप्त कर सकें। वह इतनी विस्तृत भी नहीं होनी चाहिये जिसपर शासन करना असम्भव हो और इतनी संकुचित भी नहीं कि वहांके निवासी अपनी रक्षा आप न कर सकें। रूसोने लिखा है कि बहुत दूरके प्रदेशोंमें शासन करना कठिन हो जाता है। शासनके सुभीताके लिये और लोगोंके हितके लिये किसी राज्यमें जरूरतसे ज्यादा विस्तारकी भूमि आवश्यक नहीं। कुछ पाश्चात्य लेखकोंने इस विषयपर विचार करते हुए राज्यतन्त्र और प्रजा-तन्त्र राज्योंपर विचार किया है। मेडिसन नामक एक सुप्रख्यात राजनीतिविशारदका कथन है कि प्रजातन्त्रकी नैसर्गिक सीमा

उतनी विस्तृत होनी चाहिये जिससे राज्यके मध्यवर्ती केन्द्रमें उस राज्यके अन्तर्गत दूर दूरके प्रदेशोंसे प्रतिनिधि सुभीतासे आवश्यकतानुसार जमा हो सकें। अगर राज्यका विस्तार इतना अधिक हुआ कि मध्यवर्ती केन्द्रमें उस राज्यके दूर दूर प्रदेशोंके लोग जमा न हो सकें तो इससे उस राज्यके शासनमें सबके सब लोगोंके प्रतिनिधि न आ सकेंगे और जनताका एक हिस्सा शासनमें योग्य हिस्सा लेनेसे वंचित रह जायगा। इसके विपरीत अलेकजेंडर हैमिल्टन महोदयका कथन है कि भूमिका विशाल विस्तार लोगोंकी नैसर्गिक शक्तिको बढ़ाता है और अल्प विस्तार अन्य प्रबल राष्ट्रोंको उस राज्यपर हमला करने तथा उसकी स्वाधीनता नष्ट करनेका मौका देता है। उनका कथन है कि जितना कम भूमिविस्तार होगा उतना ही कम उस राज्यके लोगोंको शत्रुके खिलाफ अधिक सुदृढ़ क्षेत्र बनानेका अवसर मिलेगा और जितना विशाल क्षेत्रफल होगा उतना ही उनको आत्मरक्षाके या शत्रुके विरोध करनेके अधिक साधन मिलेंगे। सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक ब्लंशले (Bluntschli)ने इन सब विचारोंका परीक्षण कर लिखा है कि राज्यकी शक्तिका अंदाजा भूमिविस्तारसे नहीं लगाया जा सकता। फ्रांस और जर्मनीकी भूमिका क्षेत्रफल रूससे दस गुना कम है तोभी इन दोनों राष्ट्रोंकी शक्ति रूसकी अपेक्षा अधिक है। ग्रेटब्रिटनका यूरोपीय भूमि-विस्तार जर्मनी और फ्रांससे कम है पर उसके अधीनस्थ राज्योंको एक तरफ रखकर भी प्रभाव और शक्तिमें ग्रेटब्रिटनकी इन दोनोंके

राज्य मजेमें तुलना की जा सकती है। ग्रीककी सिटी स्टेट (City State) भूमिके विस्तारकी दृष्टिसे छोटी थी पर इतिहासमें ग्रीक राजधानी एथसका महत्व कम नहीं था। ब्लंशलेके मतानुसार उस राज्यको, जिसका विस्तार विशाल है और भौगोलिक परस्थितिके कारण जिसके सब प्रदेश मिले हुए नहीं हैं, अपनी आत्मरक्षा करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। युद्धके समय अपने सब प्रदेशोंकी रक्षा करनेमें उसे बड़ी बड़ी दिक्कतोंका सामना करना पड़ता है।

कुछ पाश्चात्य लेखकोंका मत है कि सिटी स्टेट या अल्प विस्तारका देश सरकारके या शासनके किसी विशिष्ट रूपके लिये विशेष सुभीताजनक होता है। इसके विपरीत उस विशिष्ट रूपकी सरकारको उस राज्यका इंतजाम करना कठिन होता है जिसके प्रान्त, पर्वत, नदियां आदि भौगोलिक परिस्थितिके कारण एक दूसरेसे मिले हुए नहीं हैं तथा जिनके कुछ या अधिक प्रान्त राज्यके मध्यवर्ती केन्द्रसे बहुत जुदे और दूरपर हैं। इन विचारोंके लेखकोंके मतानुसार विशुद्ध प्रजातन्त्रको अल्प विस्तारवाले तथा जुड़े हुए प्रान्तोंवाले राज्यमें अधिक सफलता होती है। मि० जैलिनेक नामक लेखक कहता है, "रिपब्लिकन सरकार अल्प विस्तारवाले राज्योंके लिये अधिक सुविधादायक होती है और विशाल विस्तारवाले राज्योंके लिये राजतन्त्र (Monarchy) अधिक सुविधादायक होता है। हां, हालके कुछ विशाल भूमिवाले प्रजातन्त्र राज्योंने अपने प्रत्यक्ष उदाहरण-

से इस धारणाको बड़ा सन्देहास्पद कर दिया है। जान स्टुअर्ट मिलका कथन है, "राज्यका विस्तार इतना नियमित होना चाहिये जिसपर कि अच्छी तरह शासन किया जा सके और एक मध्यवर्ती केन्द्रके द्वारा जिसका शासन देखा जा सके।" आगे चलकर मिल फिर कहते हैं, "ऐसे बहुतसे देश हैं जिनका विस्तार बहुत विशाल है और जिनके दूरवर्ती बहुतसे प्रान्त मध्यवर्ती केन्द्रसे अच्छी तरह शासित नहीं किये जाते हैं।" इन्हीं सब बातोंको सामने रखकर सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता मिल महोदय राज्यकी सीमाकी अत्यधिक विशालताके बदले समुचित नियमितताको अधिक पसन्द करते हैं।

भूमिविस्तारकी राक्षसी आकांक्षा

इस तत्त्वको ठीक समझते हुए भी कई आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र अपनी बढ़ती हुई जनताके लिये उसके जीवनकी विशेष सुभीताओं और आरामके लिये, उनकी व्यापार वृद्धिके लिये, नये नये मुल्कोंपर अधिकारकर अपने राज्यको सुविशाल बनाना ठीक समझते हैं। एशिया अफ्रीका आदि देशोंका अधिकांश भाग इसी तरह यरोपके राष्ट्रोंने बांट लिया। वहांके मूलनिवासियोंको कुचलकर ये उस भूमिके स्वामी बन बैठे। अपने राष्ट्रके फायदेके लिये, अपने राष्ट्रके लोगोंके आराम और सुभीताके लिये अन्य राष्ट्रोंको कुचलकर उनपर अधिकार जमा लेना और उस राष्ट्रके मूलनिवासियोंके नैसर्गिक स्वत्वों-

का नाश कर देना, इस प्रकारकी कुटिलता यूरोपकी आधुनिक राजनीतिमें घुसी हुई है। पर इस महायुद्धके बाद संसारमें जो नयी लहर बह चली है उसने संसारभरको इनकी नीच कुटिलताका सन्देशा पहुंचाया है और आशा है भविष्यमें इनकी इस कुटिलताका बुरी तरहसे अन्त होगा, अस्तु।

भौगोलिक स्थिति और राष्ट्रीय जीवन

किसी राज्यकी भौगोलिक स्थितिका, उसकी सीमाके रूप और आकृतिका, उसके विस्तारका उसके राष्ट्रीय जीवन और संस्थाओंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्लेटो, एरिस्टाटल, मेकेह्वेली, बाडिन, काम्प्ट (Compte), ह्यूम आदि प्राचीन कालके कितने ही पाश्चात्य विद्वानोंने किसी राष्ट्रके चरित्र और राष्ट्रीय जीवनपर उसकी नैसर्गिक परिस्थितिका जो प्रभाव पड़ता है उसको बहुत महत्व दिया है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्कलेने यहांतक कह डाला है कि किसी राष्ट्रकी भूमि, जलवायु और अन्नका उस राष्ट्रके औद्योगिक, बौद्धिक और राजनैतिक विकासपर बड़ा आश्चर्यकारक प्रभाव पड़ता है। माण्टेस्क नामक एक तत्ववेत्ताने तो देशके जलवायुजनित प्रभावों और कानूनमें तथा भूमिके उपजाऊपन और सरकारके रूपमें बड़ा भारी सम्बन्ध स्थिर करनेका प्रयत्न किया है। पर इसका मत राजनीतिज्ञोंको मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि इसमें अतिशयोक्तिकी विशेष मात्रा है।

भौगोलिक परिस्थितिका देशके आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवनपर कुछ न कुछ अवश्य प्रभाव पड़ता है। प्राचीन ग्रीसमें छोटे छोटे राज्योंका अस्तित्व था। ये राज्य पर्वतोंकी श्रेणियोंसे, समुद्रसे एक दूसरेसे अलग हो गये थे। इन्हें मिलानेका बहुत प्रयत्न किया गया पर इसमें असफलता हुई। इससे यह सिद्ध होता है कि भौगोलिक विभेद राष्ट्रीय एकतामें बाधा पहुंचाता है।

राज्यका दैवो मूल

राजा देवताका अंश है, यह कल्पना संसारमें अत्यन्त प्रचीन कालसे चली आ रही है। वेदोंमें, स्मृतियोंमें तथा पुराणोंमें कई जगह ऐसे उल्लेख आये हैं जिनमें धर्मात्मा, प्रजाप्रिय, जितेन्द्रिय और शक्तिशाली राजाको देवताका अंश बतलाया है। महाराज मनुने लिखा है, जब प्राणीगण राजाके अभावमें डरके मारे इधर उधर चहुं ओर बिखरने लगे तब ईश्वरने संसारकी रक्षाके लिये राजाको उत्पन्न किया। मध्ययुगके एक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखकने लिखा है, "ईश्वरने भूमण्डलपर रहे हुए कुछ शक्तिशाली विभूतियोंपर प्रकाश डाला और प्रेरणा द्वारा संसारको उनका हुक्म माननेमें धर्म बतलाया।" सेण्ट पालने रोमन लोगोंको सम्बोधन कर आदेश दिया था, "हर एक आत्मा उच्च शक्तियोंकी आधीनता स्वीकार करे, ईश्वरके सिवा कोई शक्ति नहीं है। अगर सृष्टिकी किसी विभूतिमें शक्ति दिखलायी पड़ती है, तो

वह ईश्वरकी ही है। महाभारतमें कहा है कि "राजाको साधारण मनुष्य समझकर कोई उसका अपमान न करे क्योंकि राजा इस भूमण्डलपर मनुष्यके रूपमें देवता है। राजा जब लोगोंको शिक्षा करता है तब वह महेन्द्र रूपमें रहता है, जब वह पापी लोगोंको दण्ड देता है तब वह यमरूपमें रहता है, जब वह पृथ्वीपर भ्रमणकर राष्ट्रका निरीक्षण करता है, तब वह सूर्य्य स्वरूप हो जाता है, अपकारी लोगोंका द्रव्य हरणकर जब वह दूसरोंको सम्पत्ति देता है तब वह कुबेरके रूपका हो जाता है। राजाको कभी दोष देनेके लिये तैयार नहीं होना चाहिये। मनुष्यको राज्यद्रव्यका कभी अपहरण नहीं करना चाहिये। जो ऐसा करेगा उसकी इस लोक और परलोकमें निन्दा होगी। मतलब यह कि पाश्चात्य शास्त्रोंकी तरह हिन्दू शास्त्रोंमें भी कई जगह राजाको देवताका अंश माना है। हां, हिन्दू-शास्त्रोंमें उसी राजाको देवताका अंश माना है जो संयमशील, विद्वान, प्रजाप्रिय और शक्तिशाली होकर विविध दैवी गुणोंसे विभूषित हो। हिन्दू-शास्त्रोंमें ऐसे दिव्य गुणोंसे युक्त राजाको विष्णुका अवतार तक कहा है।

प्राचीन कालके यूरोपकी तरह मध्यकालीन यूरोपमें भी यह भावना अधिक जोर पकड़े हुए थी कि राजा देवताका अंश है। मध्ययुगमें ईसाई धर्मके जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें कई जगह लिखा है कि राजा ईश्वर द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि है। सन् १५१ में आंगसवर्गके एक घोषणापत्रमें कहा गया था कि "स्वयं ईश्वर

ने सर्वसत्ता, कानून, सरकार और व्यवस्थाको उत्पन्न किया है।" अठारहवीं सदीतक यूरोपमें यह भावना थी कि राज्य ईश्वरीय संस्था है और राजा दैवी स्वत्वसे राज्य करते हैं। इस सिद्धांत या भावनाका जोर फ्रान्समें अधिक था। फ्रान्समें तो राजा लोग इस बातका दावा करते थे कि हमें ईश्वरसे यह महान सत्ता प्राप्त हुई है।

सन् १८१५ में रूस, आस्ट्रिया और प्रशियाके सम्राटोंके बीच जो साधु-मैत्री हुई उसमें उन्होंने साफ तौरसे प्रकट किया था कि हमें अपने राज्यके लोगोंपर शासन करनेके लिये ईश्वरने प्रतिनिधि रूपमें भेजा है। इसी प्रकारकी भावनायें उस समय यूरोपके कई सम्राटोंकी थीं। अधिकांश लोग भी ऐसा ही समझते थे।

इस बीसवीं सदीमें भी इस कल्पनाका समूल नाश नहीं हुआ था। जर्मन सम्राट् कैसरने कई बार यह बात दावेके साथ कही थी कि हम ईश्वरीय सत्तासे शासन करते हैं। रूसके जार और आष्ट्रियाके सम्राटके भी ऐसे ही विचार थे।

कई बड़े २ राजनीतिक दार्शनिकोंने (Political Philosophers) ने भी बड़े जोरके साथ राजाके दैवी अधिकारका पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है। सत्रहवीं सदीका सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'बोसेट' (Bossuet) ने अपने 'Politics as derived from Scriptures' में लिखा है, "ईश्वरने राजाओंको अपने सचिवोंकी हैसियतसे नियुक्त किया है। ईश्वर इनके द्वारा लोगोंपर उसी प्रकार शासन करता है, जैसे पिता बच्चोंपर करते हैं।"

इंग्लैण्डके राजा जेम्सने सिंहासनासीन होनेके पहले अपने 'The true Law of a Free Monarchy' में अपना मनस्वी सिद्धान्त प्रकट किया था कि "राजा ईश्वरीय अधिकारसे राज्य करते हैं। प्रजाको उनके खिलाफ चूं करनेतकका अधिकार नहीं। इसने अपने इस वक्तव्यको ईसाई धर्मशास्त्रोंसे और प्रकृति-के नियमोंसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उसने बड़े जोरसे यह लिखा है कि जिस प्रकार ईश्वरके खिलाफ़ उसके कार्योंके लिये खड़ा होना पाप और मूर्खता है, वैसे ही राजाके खिलाफ़ भी खड़ा होना पाप और मूर्खता है, क्योंकि राजा ईश्वरहीका प्रतिनिधि और प्रतिबिम्ब है।

यद्यपि ग्राटियस (Grotius), हाब्स (Hobbes) और लाक (Locke) प्रभृति पाश्चात्य विद्वानोंने राजाके दैवी अधिकार-सिद्धान्तपर जोरका कुठाराघात किया था, पर इनके बाद भी यह कल्पना कुछ अंशमें विद्यमान थी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदीमें इस कल्पनापर जोरका कुठाराघात होता रहा। लोग समझने लगे कि यह सारा मायाजाल अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये रचा गया है। यह सब बनावटी बातें हैं। इस महायुद्धने तो यूरोपमें इस कल्पनाका मानों समूल नाश कर दिया। रूसके ज़ार जो अपने आपको सर्वसत्ताधारी और ईश्वरके खास प्रतिनिधि समझते थे, राज्यच्युत कर मार डाले गये। जर्मन सम्राट कैसर हालैण्डमें अधिकारच्युत होकर पड़े हैं। आस्ट्रियाके सम्राटका पता भी नहीं है। अब एकतन्त्रीय शासनका जमाना

गया। अब पाश्चात्य संसारके लोग क्षणभरके लिये भी यह बात माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि राजा देवताका अंश या ईश्वरका प्रतिनिधि है।

राज्य स्वतः अन्तिम ध्येय है
या
उसका साधन ?

राज्यके उद्देश्य बड़े ही पवित्र और दिव्य होने चाहिये; क्योंकि जनताका हिताहित बहुत कुछ राज्यपर निर्भर करता है। "यथा राजा तथा प्रजा" की कहावत मशहूर ही है। हमारे हिन्दू शास्त्रकारोंने तो राज्यके उद्देश्य बहुत ही व्यापक और विस्तृत कर दिये हैं। उन्होंने स्पष्टतया कहा है कि राज्य केवल प्रजाकी इहलौकिक उन्नतिहीके लिये जिम्मेदार नहीं है, पर पारलौकिक उन्नतिके लिये भी जिम्मेदार है। महाराजा अशोकने समय समयपर जो आज्ञाएं प्रकट की थीं उनसे हमारे कथनकी पुष्टि होती है। हिन्दू शास्त्रकारोंने राज्यके जो उद्देश्य और लक्ष्य बतलाये हैं, उनपर हम किसी स्वतन्त्र अध्यायमें विचार करेंगे। सम्प्रति हम पाश्चात्य दृष्टिहीसे इस विषयपर दो शब्द लिखना चाहते हैं।

प्राचीन ग्रीक लोगोंका राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त यही सूचित करता है कि ग्रीक लोग राज्यको मानवी जीवनका सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य समझते थे। वे राज्यको अन्तिम आदर्शपर पहुंचनेका

केवल साधन ही नहीं वरन् स्वतः राज्यहीको अन्तिम आदर्श मानते थे (They regarded the State an end in itself)। व्यक्तियोंको वे राज्यके अंशमात्र मानते थे। व्यक्तियोंके स्वतन्त्र अस्तित्वको वे विशेष महत्व नहीं देते थे। वे मानते थे कि जिस प्रकार शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंका काम सारे शरीरकी सेवा करना रहता है; वैसे ही व्यक्तियोंका काम उनके राज्यरूपी शरीरकी सेवा करना है, अर्थात् व्यक्तियोंको अपना भिन्न अस्तित्व राज्यके अस्तित्वमें विलीन कर देना चाहिये। प्राचीन ग्रीसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता (Individual freedom) राष्ट्रीय स्वाधीनताका अंशमात्र मानी जाती थी। वहां उस वक्त राष्ट्रीय हितके खिलाफ़ व्यक्तिगतहित या स्वाधीनताका कोई सवाल उठता, तो उसका समर्थन या तो होता ही न था, अगर कहीं कुछ हो गया तो बहुत ही कम।

आधुनिक पाश्चात्य लेखक अधिकांशमें ग्रीक लोगोंके उक्त सिद्धान्तके खिलाफ हैं। हम यह नहीं कहते कि सबके सब ही खिलाफ हैं। हमारे कहनेका मतलब यह है कि अधिकांश पाश्चात्य लेखक अब इस सिद्धान्तके खिलाफ होते जा रहे हैं कि व्यक्तिगत हितकी बलि सम्पूर्ण रूपसे राष्ट्रीय हितके यज्ञमें कर दी जावे। आधुनिक लेखक राज्यको आदर्शपर पहुंचनेका केवल साधन मानते हैं, वे राज्यहीको आदर्श या अन्तिम लक्ष्य नहीं मानते। बहुतसे लेखक इसी बातका प्रतिपादन करते हैं कि मनुष्यके हित या विकासके लिये राज्य एक साधन है। लार्ड

मेकालेने कहा है, "प्राचीन राजनीतिज्ञोंका प्रधान दोष यह है कि वे यह नहीं मानते कि राज्य और कानूनका अस्तित्व व्यक्तियोंकी सुख-समृद्धिके विकासके लिये है। सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक ब्लन्शलेका कथन है, "आधुनिक राजनीतिज्ञ राज्यको एक ऐसी संस्था या यन्त्र मानते हैं, जो कि प्रत्येक व्यक्तिकी जान, माल और व्यक्तिगत स्वाधीनताकी रक्षाका जिम्मा लेता है।" दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि उनके मतानुसार राज्य एक ऐसी कृत्रिम सृष्टि है जिसका ढांचा लोगोंकी या अधिकांश लोगोंकी सुख-समृद्धिको वृद्धिके लिये बनाया गया है। बेकनके समयसे इस सिद्धान्तकी कई लेखकों द्वारा पुष्टि होती आ रही है। जो लोग राज्यको केवल लोगोंका समुदाय समझते हैं वे इस सिद्धान्तको किसी न किसी तरह मानते ही हैं। मेरी रायमें आधुनिक और पुराने दोनों विचारोंमें सत्यका कुछ न कुछ अंश है। पर इसके साथ ही साथ यह भी कहना पड़ेगा कि दोनोंने एकतरफा विचार करनेकी गलती की है, जहां एक दृष्टिसे राज्य अन्तिम लक्ष्य माना जा सकता है, वहां दूसरी दृष्टिसे वह अन्तिम लक्ष्यपर पहुंचनेका साधनमात्र भी माना जा सकता है। इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये हम यहां एक दो उदाहरण देते हैं। मान लीजिये एक चित्रकार है जिसकी जीविका चित्र निकालनेसे चलती है और एक दूसरा आदमी है जो इन चित्रोंको बेचकर आर्थिक लाभ उठाता है। यहां यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि किसी न

किसी रूपमें दोनों ही उन चित्रोंसे आर्थिक लाभ उठाते हैं। पर पहला मनुष्य जो कि चित्रकार है, चित्रको किस निगाहसे देखता है? वह तो यह देखता है कि चित्रमें मेरे आदर्शोंके, मेरे मनोगत विचारोंके भाव ठीक ठीक उतरे हैं या नहीं। वह अपने लाभके विचारको इन ऊंची भावनाओंमें भुला देता है। उसके लिये चित्र खुद आदर्श हो जाता है, और दूसरा मनुष्य केवल उसे धन कमानेका साधनमात्र समझता है। मतलब यह कि जहां पहले मनुष्यके लिये अर्थात् चित्रकारके लिये स्वतः चित्र ही आदर्श है, वहां दूसरे मनुष्यके लिये वह लाभप्राप्तिका केवल साधनमात्र है। अब दूसरा उदाहरण लीजिये। विवाह पतिपत्नीकी व्यक्तिगत आवश्यकताओंकी पूर्तिका साधन है, यह दोनोंके लिये सुखी जीवनका मार्ग खोल देता है। यह तो हुई एक दृष्टिकी बात, अब दूसरी दृष्टिसे विचार कीजिये। विवाह स्त्री-पुरुषका संयोग है। इसी संयोगपर कुटुम्बकी नींव पड़ती है। कुटुम्ब क्या है? एक खानदानके लोगोंका सामुदायिक संघ है जिसके लिये उसके सदस्यरूप प्रत्येक व्यक्तिको अपने बहुत कुछ वैयक्तिक स्वार्थ और हितकी बलि देनी पड़ती है। मतलब यह कि विवाह और कुटुम्बका जो उच्च ध्येय है, उसमें व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्वार्थको लीन कर देनेके लिये तैयार हो जाता है।

यही बात राज्यके लिये भी लागू हो सकती है। एक दृष्टिसे वह उन लोगोंके लाभका एक साधन है जो उस राज्यके सदस्य हैं और दूसरी दृष्टिसे राज्य स्वतः ही अन्तिम आदर्श है जिसकी

सेवा करनेके लिये व्यक्ति उसी प्रकारसे बाध्य हैं, जैसे सारे शरीरकी सेवा करनेके लिये शरीरके अवयवरूप व्यक्ति बाध्य हैं।

१ राज्यके आदर्श

अबतक हमने राज्य स्वतः अन्तिम लक्ष्य है, या वह लक्ष्यपर पहुंचानेका साधनमात्र है, इस विषयपर विचार किया है। हमने प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियोंसे इस विषयपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है। अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि राज्यके ध्येय क्या हैं या क्या होने चाहिये। सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक हाल्ज़ेनडार्फ (Holtzendorff) अपने "Principier-der-Politik" ग्रन्थमें राज्यके ध्येयोंको दो भागोंमें विभक्त करता है। वे ये हैं (१) राज्यके वास्तविक ध्येय (Real ends और (२) राज्यके आदर्श ध्येय (Ideal ends)। उसके कथनानुसार राज्यके वास्तविक ध्येय ये हैं कि राज्य अपनी राष्ट्रीय शक्तिको बढ़ावे, वैयक्तिक स्वाधीनताकी रक्षा करे, सामाजिक सुधार एवं मानवी सभ्यताका विकास करे अर्थात् हालजेनडार्फके मतानुसार राष्ट्रीय शक्ति, वैयक्तिक स्वाधीनता और मनुष्य-जातिकी सभ्यताकी अभिवृद्धि ही राज्यका वास्तविक ध्येय है। वनमोहल (Von-Mohal) नामक एक सुप्रख्यात जर्मन लेखकके मतानुसार राज्यका ध्येय यह है कि वह लोगोंकी उच्चतम शक्तियोंका विकास करे। बर्गेस नामक एक दूसरा राजनीतिका सुप्रसिद्ध लेखक राज्यके उद्देश या ध्येयोंको तीन भागोंमें विभाजित करता है। (१) प्रारम्भिक ध्येय (२) माध्य-

मिक ध्येय (३) अन्तिम ध्येय। सबसे पहले उसने अन्तिम ध्येयपर विचार किया है। उसका कथन है कि मनुष्य-जातिकी पूर्णता (Perfection of humanity), संसारकी सभ्यताका विकास और इस भूमण्डलपर धर्म (Virtue) और नीति (Morality) के साम्राज्यकी स्थापना ही राज्यके अन्तिम ध्येय होने चाहिये। राष्ट्रीयताके तत्वकी पूर्णता और राष्ट्रीय प्रतिभा (National genius) तथा राष्ट्रीय जीवनका विकास राज्यका माध्यमिक ध्येय होना चाहिये। व्यवस्था और स्वाधीनताकी स्थापना उसका पहला ध्येय होना चाहिये। बर्गेस महोदय कहते हैं कि इनकी सिद्धिके लिये सबसे पहले ऐसी सरकार और स्वाधीनताका इस प्रकार सङ्गठन किया जाना चाहिये जो यथासंभव व्यक्तिकी सर्वोच्च स्वाधीनताके अनुकूल हो। दूसरी बात यह कि भिन्न २ राष्ट्रोंकी प्रतिभाका विकास किया जावे और उसे पूर्णतापर पहुँचानेका प्रयत्न किया जावे। राजनीतिके प्रसिद्ध आचार्य्य लाक महोदयका कथन है, राज्यका उद्देश या ध्येय मनुष्य-जातिकी भलाई करना है। प्रोफेसर रिची (Ritchi) महोदय मनुष्यजातिके सर्वोत्कृष्ट जीवनके आविष्करणको राज्यका प्रधान उद्देश समझते हैं। एक आधुनिक फ्रेञ्च विद्वान्‌का कथन है, "सबसे पहले राज्यका यह कर्त्तव्य है कि वह बाहरी शत्रुओंसे राष्ट्रीय स्वाधीनताकी रक्षा करे, भीतर सुख शांति और सुव्यवस्था रखे। इसके पश्चात् राष्ट्रीय जीवनके विकास करनेका प्रयत्न करे अर्थात् राष्ट्रकी प्रगति करे"। लेबले (Laboulaye)

नामक एक दूसरे फ्रेंच राजनीतिज्ञका मत है, "राज्यका कर्त्तव्य यह है कि वह प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसके पूर्ण विकासका, मार्ग खोल दे, वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे मनुष्यकी शारीरिक बौद्धिक और नैतिक शक्तिका पूर्ण विकास हो, विकासके मार्गमें आनेवाली बाधाओंको वह हटा दे, गरीबसे गरीब और अज्ञानीसे अज्ञानी मनुष्यके द्वारपर ज्ञान और शिक्षाका प्रकाशकर सर्वसाधारणको उन्नतिके पथपर आगे बढ़ावे।" अमेरिकाके विख्यात लेखक गार्नर महोदय इन सब बातोंका विश्लेषणकर यह सार निकालते हैं, "राज्यका वास्तविक, प्रारम्भिक और तत्कालिक ध्येय यह है कि वह शांति, व्यवस्था, हिफाजत और न्यायकी व्यवस्था करे। इसमें कानूनका राज्य स्थापित करनेकी बात भी आ गयी है, जिससे वैयक्तिक स्वत्वोंकी रक्षा की जा सके, कोई मनुष्य, कोई समाज, या कोई सरकार दूसरेकी वैयक्तिक स्वाधीनतामें बाधा न डाल सके। यदि राज्य इन उद्देशोंको, इन ध्येयोंको, पूर्ण करनेमें असफल होता है, तो समझना चाहिये कि उसका अस्तित्व न्याययुक्त नहीं है। वह अन्य बातोंकी कुछ अंशोंमें उपेक्षा कर सकता है पर इन अत्यन्त आवश्यक बातोंकी नहीं कर सकता। राज्यको वैयक्तिक तथा सामाजिक हित और आवश्यकताओंपर अवश्य नजर रखना चाहिये। उसे ऐसे कार्य करने चाहिये जो लोगोंके हितके लिये आवश्यक हों।

इन सब प्रारम्भिक और मूल कर्त्तव्योंके सिवा राज्यका अन्तिम कर्त्तव्य और सर्वोत्तम ध्येय मनुष्य-जातिकी सभ्यता और

संस्कृतिका विकास करना है। प्रातःस्मरणीय श्री अरविंद घोषने अपने एक व्याख्यानमें कहा था, "भारतीय स्वराज्यका आदर्श महान, पवित्र और दिव्य है। वह अपनी क्षुद्र आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये, अपने हीनतम स्वार्थोंकी सिद्धिके लिये अपना राज्य स्थापित करना नहीं चाहता। उसके सामने महान आदर्श है। वह अपने साथ सारी मनुष्यजातिको उठाना चाहता है। वह सारी मनुष्यजातिके सामने अपना दिव्य आध्यात्मिक संदेशा रखना चाहता है। वह मनुष्य-जातिमें रहे हुए उस अलौकिक तत्त्वका आविष्करणकर संसारमें अपूर्व सुख और दिव्यताका प्रकाश फैलाना चाहता है। भारतीय-स्वराज्यके सामने यही दिव्य उद्देश होने चाहिये।" कविवर रवीन्द्रनाथने भी इसी प्रकारके दिव्य विचार प्रकट किये हैं।

२ विश्वव्यापी राज्य।

जिन लोगोंने मानव-प्रकृतिका अन्वेषणापूर्वक पर्य्यवेक्षण किया है, वे जानते हैं कि, उसकी स्वाभाविक प्रकृति एकताकी ओर रहती है, सृष्टिमें जो अनेक विभिन्नतायें तथा विविधतायें दीखती हैं, उनमें वह एकताका दर्शन करनेके लिये स्वभावहीसे प्रवृत्त होती है, संसारमें अनेक विविधताओंसे घिरी रहनेपर भी वह अपना आदर्श "एकता" रखती है, संसारमें अनेक प्रकारके मत मतान्तर हैं, पर सब अन्तमें एक ही लक्ष्यपर जाकर स्थिर हो जाते हैं, विभिन्नतासे निकलकर एकताकी ओर पहुंचनेके लिये सारा संसार प्रयत्न करता है, विज्ञान भी इसी बातको

खोज करता है कि प्रकृतिके भिन्न भिन्न नियमोंमें एकताका एक सर्वसामान्य तत्त्व निकाला जावे, और इसमें उसे कुछ सफलता भी हुई है। जितने दार्शनिक, जितने विज्ञानी तथा जितने उच्च कवि हैं, सब ही "एकता" की ओर दौड़ते हैं। यह प्रवृत्ति आजसे नहीं, सृष्टिके आरम्भकालसे चली आ रही है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का तत्त्व इसी एकताका द्योतक है, विज्ञान बड़े परिश्रमके बाद अन्तमें एक तत्व-इलेक्ट्रनकी ओर पहुंचा है, संसारमें जितने धर्म हैं, सब ही एक सर्वसामान्य, सर्वव्यापी तत्त्वकी खोज कर रहे हैं। बात यह है कि मनुष्यकी प्रकृतिको तबतक असली शान्ति नहीं मिलती जबतक कि वह एकताके दर्शन नहीं करती। बड़े २ दार्शनिकोंने लिखा है कि शान्ति एकतामें है।

देखते हैं कि राजनीतिक संसारमें भी हजारों वर्षों से इस एकताके स्थापित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। संसारके कई भूतकालीन महानुभावोंने इसे स्थापित करनेका प्रयत्न किया था, और अब भी कई महानुभाव संसारकी स्थायी शान्तिके लिये मनुष्य-जातिको भयङ्कर युद्धों और खूनखराबीसे रक्षा करनेके लिये राजनीतिक एकताकी अत्यन्त आवश्यकता समझते हैं। संसारमें इस वक्त जिस अपूर्व मानसिक क्रान्तिकी तैयारी हो रही है वह इसी एकताके स्थापित करनेके हेतु हो रही है। इस वक्त संसारके बड़े २ प्रतिभाशाली मस्तिष्क इसी संसार-व्यापी राजनीतिक एकताको चिरस्थायीरूपसे प्रस्थापित करनेके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। इस अध्यायमें जिस विषयकी चर्चा की

जायगी, वह इस राजनीतिक एकताका महासाधन होगा। वह विषय है :—

सार्वभौमिक राज्य।

सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक एरिस्टाटलका कथन है कि मनुष्य स्वभावहीसे राजनीतिक प्राणी (Political animal) है, वह किसी राष्ट्रीय विभिन्नता अथवा विशेषताके कारण राज्य नहीं चाहता। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रकृति ही ऐसी है कि बिना राज्यके उसका काम ही नहीं चल सकता। मनुष्य-समाजके लिये राज्यका अस्तित्व आवश्यक है। कई उदार राजनीतिके दार्शनिकोंका कथन है कि क्या सृष्टिके भिन्न २ राज्योंमें एकताका सर्व-सामान्य सूत्र ग्रथित नहीं किया जा सकता। मनुष्य-जाति उसके समष्टिरूपमें एकतामय है। वह किसी न किसी प्रकारकी सर्व-सामान्य भावनासे प्रेरित होती है। ऐसी दशामें क्या सारी मनुष्य-जातिके लिये एक सर्व-सामान्य राज्यका आदर्श असङ्गत है ?

इसमें शक नहीं कि इस वक्त संसारमें कई ऐसे राज्य हैं, जो राष्ट्रीय हैं, जो अपने राष्ट्रमें एकता रखनेका यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, पर राजनीतिके उदार दार्शनिकोंको इनसे संतोष नहीं होता। वे समझते हैं कि राज्यकी सर्वोत्तम और सर्वोच्च कल्पनाकी सिद्धि इन राज्योंसे नहीं होती। उनके विचारानुसार एक सार्वभौमिक राज्य ऐसा होना चाहिये जो अखिल मनुष्य-जातिका दृश्य शरीर हो। इन महानुभावोंके विचारानुसार सार्वभौमिक राज्यही मानवी प्रगतिका आदर्श है।

इतिहासको देखनेसे पता चलता है कि पूर्वकाल तथा मध्य-कालमें भी सार्वभौमिक राज्य स्थापित करनेके असफल प्रयत्न हो चुके हैं। इनमें किसीको सफलता नहीं हुई। पर इससे यह न मान लेना चाहिये कि आगे भी सफलता न होगी। संसार विकास-मय है, मनुष्य-जातिके दिव्यगुणोंका ज्यों ज्यों विकास होता जायगा त्यों त्यों इस महान राजनीतिक आदर्शकी सफलता-में विशेष सहायता मिलती जायगी। इसके लिये पहले जो प्रयत्न हुए, वे सब बाहरी थे, इससे सफलता नहीं हुई। बाहरी कृत्रिम साधनोंसे इस महान एकताका स्थापित होना असम्भव है, इसके लिये मनुष्य-जातिके अन्त:करणकी एकताकी आवश्यकता है। जबतक मनुष्य-जातिमें "अयं निजः परोवेत्ति गणना लघु चेत-साम्, उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना दृढ़ न होगी, जबतक मनुष्य-जाति आत्मैक्यका दिव्यअनुभव नहीं करने लगेगी, जबतक वह आत्मसृष्टिमें एकताका अनुभव न करने लगेगी तबतक इस राजनीतिक विश्वव्यापी एकताका—सार्व-भौमिक राज्यका-सफलताके साथ स्थापित होना असम्भव है। अगर कोई प्रबल राष्ट्र अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये किसी सार्व-भौमिक सत्ता या राष्ट्रसंघकी स्थापनाकर संसारमें शान्ति-स्थापन करना चाहे, तो यह त्रिकालमें सम्भव नहीं। संसारव्यापी शान्ति बाह्य साधनोंसे नहीं आन्तरिक साधनोंसे स्थापित हो सकती है। जड़वादके पायेपर, बाहरी शक्तिके बलपर "सार्व-भौमिक राज्य" स्थापित किया जायगा, तो वह कभी चिरंजीवी

नहीं हो सकता। वह जन्महीसे रुग्ण होकर अत्यन्त अल्पायुमें ही मृत्युकी शय्यापर जा लेटेगा। इसलिये कविवर रवीन्द्रनाथ और प्रातःस्मरणीय अरविंद घोषने संसारव्यापी एकताका, सार्वभौमिक सत्ताकी सफलताके लिये मनुष्य-जातिके आत्मैक्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता बतलायी है। अबतक इस विषयमें जो प्रयत्न हुए, उनकी असफलताका कारण यह था कि उनमें आत्मिक-भाव नहीं था, उनकी नींव जड़-शक्तिपर पड़ी हुई थी।

अत्यन्त उच्च, पवित्र और दिव्य आदर्शोंको रखते हुए आत्मिकभावपर अगर कोई ऐसी सार्वभौमिक सत्ता, जिसमें सारी मनुष्य-जातिके प्रतिनिधि हों, जिसमें सारी मनुष्य-जातिकी कल्याणकामना हो, जिसमें मनुष्यजातिके लौकिक और आत्मिक विकासके ध्येय समाविष्ट हों, स्थापित हो तो उससे संसारका वास्तविक कल्याण हो सकता है और वह सफलतापूर्वक चिरकालतक जीवित रह सकती है।

३ राज्यके भिन्न भिन्न रूप।

सुप्रसिद्ध ग्रीक तत्त्वज्ञानी एरिस्टाटलने राज्यके रूपोंका विभक्तीकरण किया था। थोड़ेसे मतभेदके साथ आपका यह विभक्तीकरण आज भी कई राजनीतिके पण्डितोंको मान्य है। राजनीतिक संसारमें बहुत प्रगति हो जानेके कारण, इस वक्त एरिस्टाटलके विभक्तीकरण (Division)से जैसा चाहिये, वैसा काम नहीं चलता, पर फिर भी तत्त्वतः यह अब भी मान्य

हो रहा है। एरिस्टाटलने राज्यके प्रधानतया तीन रूप बतलाये हैं। (१) राजतन्त्र (Monarchy) (२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) और (३) प्रजातन्त्र (Democracy)। आज भी प्रधानतासे राज्यके ये तीन ही रूप माने जाते हैं। कितने ही विभाग जो आजकल किये जाते हैं, किसी न किसी तरह इन तीनोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। पहले हम इन तीनों पद्धतियोंका अलग २ विचारकर फिर हम इनके अन्तर्गत आनेवाली अन्य राज्य-पद्धतियोंका भी विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

राजतन्त्र।

राजतन्त्र (Monarchy) उस शासनप्रणालीका नाम है, जिसमें किसी एक उच्चतम सत्ताकी प्रेरणासे राज्यका कारोबार चलता हो। इसे हम सीधे सादे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जहां एक राजाका राज्य हो, जहां राजाके हाथमें राज्यकी सब विधि द्वारा मर्यादित शक्तियां और अधिकार हों, वहांके शासनको राजतन्त्र कहते हैं। महामति एरिस्टाटलका कथन है—"वह राज्य राजतन्त्रीय कहलाता है, जहां एक आदमी सर्वसाधारणके हितके लिये राज्य करता है। अमेरिकाके सुप्रसिद्ध लेखक मि॰ गार्नरका कथन है "जहां शासनकी ऊंची सत्ता किसी एक व्यक्तिमें केन्द्रीभूत हुई हो, चाहे फिर उसके अधीनस्थ शासनका फुटकल काम करनेवाले कितने ही व्यक्ति क्यों न हों, वहांके शासनको राजतन्त्र कहते हैं।"

राजतन्त्रके प्रधानतासे दो भेद किये जा सकते हैं। सर्व-

सत्ताधारी राजतन्त्र(Absolute monarchy) और वैध राजतन्त्र (Constitutional monarchy)। सर्वसत्ताधारी राजतन्त्र उसे कहते हैं जहां "राजा करे सो न्याव और पासा पड़े सो दाव" की कहावत चरितार्थ होती है, जहां राजाका हुक्म ईश्वरीय आज्ञाके तुल्य समझा जाता है, जहां राजाके अधिकारमें किसीको चूं करनेतकका अधिकार नहीं, जहां राजा ही सब कुछ है, प्रजाके मतका या भावोंका आदर करना या न करना, यह राजाके मर्जीकी बात है। रूसका जार तथा भारतके अधिकांश देशी राजा इस श्रेणीमें आते हैं। हमारी रायमें सर्वसत्ताधारी राजतन्त्रके भी दो उपविभाग हो सकते हैं। यथा आदर्श सर्वसत्ताधारी और स्वेच्छाचारी या अत्याचारी सर्वसत्ताधारी राजतन्त्र। आदर्श या प्रजाप्रेमी सर्वसत्ताधारी राजा उन्हें कहते हैं जिनके हाथमें यद्यपि सर्वसत्ता रहती है, पर वे अपनी खुशीसे प्रजामतका बड़ा आदर करते हैं, प्रजाको पुत्रवत् समझते हुए उसीके हितमें अपना हित समझते हैं। प्रजाकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नतिको अपना प्रधान ध्येय मानते हैं। इस प्रकारके उच्चातिउच्च और दिव्य राजाओंमें हम श्रीरामचन्द्रका नाम सबसे पहले रखेंगे, जिन्होंने प्रजामतके आदर करनेका तथा प्रजाहितका सर्वोत्तम आदर्श दिखलाया। इस श्रेणीके और भी कई आदर्श राजाओंके उल्लेख हमारे शास्त्रोंमें मिलते हैं। आधुनिक कालमें यद्यपि "राम" जैसे दिव्य राजा दिखायी नहीं देते हैं, पर फिर भी कुछ ऐसे राजा हैं जो प्रजामतका

आदर करते हैं और प्रजाका कल्याण करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। किसी अंशमें महाराजा बड़ौदा, मैसूर, ट्रावनकोर, इन्दौर, झालरापाटन आदिके नृपतियोंको इस श्रेणीमें ले सकते हैं। दूसरी श्रेणीमें अत्याचारी और स्वेच्छाचारी सर्वसत्ताधारी राजा आते हैं। ये प्रजामतकी कुछ परवा नहीं करते। राज्यको अपनी बपौती मानते हैं। ये अपने आपको देवताका अंश या विष्णुका अवतार समझते हैं। प्रजामतकी अवहेलना कर चाहे सो कर डालते हैं। ये समझते हैं कि ईश्वरने हमें शासन करने हीके लिये सृजा है। मतलब यह कि ये पूरे तौरसे स्वेच्छाचारी होते हैं। रूसके मृत जारकी गणना ऐसे स्वेच्छाचारियोंमें थी। भारतवर्षके अधिकांश राजा महाराजा विशेष कर राजपूतानेके राजा इस श्रेणीमें आने योग्य हैं।

अब वैध राजतन्त्र (Constitutional monarchy) को लीजिये। वैध राजतन्त्र उसे कहते हैं जिसमें राजाकी शक्तियां देशकी किसी विधि (Constitution) से या प्रजामतसे मर्यादित हों। इङ्गलैण्डके आधुनिक राजा सम्राट पञ्चम जार्ज इस श्रेणीमें आते हैं। यद्यपि वे राजराजेश्वर हैं, पर उनके अधिकार देशकी विधि (Constitution) से मर्यादित हैं। वे बिलकुल स्वेच्छाचारी नहीं हैं। पार्लियामेण्टसे उनके अधिकार नियमित हैं। वे भारतीय राजाओंकी तरह मनमानी नहीं कर सकते। यूरोपके अन्य कितने ही राजाओंकी शक्तियां या अधिकार कुछ न्यूनाधिक रूपसे, इसी प्रकार देशकी विधिसे नियमित हैं।

यह तो हुए शासनकी दृष्टिसे राजतन्त्र (Monarchy) के भेद। अब दूसरी तरहके भेदोंपर विचार कीजिये। राजा दो तरहके होते हैं, एक वे जो पुश्तैनी राजा होते हैं; दूसरे वे जो लोगोंके द्वारा चुने जाते हैं। हिन्दुस्तानके प्राचीन इतिहासके देखनेसे पता चलता है कि प्राचीन हिन्दुस्तानमें कई जगह राजा चुने जाते थे। वेदोंमें भी राजाके चुने जानेके उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थोंमें तो इस प्रकारके कई उल्लेख मिलते हैं। कहा जाता है कि प्राचीन कालमें रोममें भी राजा लोग चुने जाते थे। पोलेण्डके इतिहासमें भी राजाओंके चुने जानेके कई उल्लेख हैं। पवित्र रोमन साम्राज्यका प्रधान (Head) भी चुना गया था। सन् १७७८में बर्लिनकी सुलहके अनुसार बलगेरियाके राजाने भी चुनावके द्वारा राजगद्दी प्राप्त की थी। पर इस वक्त संसारके प्रायः सब राजा पुश्तैनी हैं; अर्थात् परम्परासे उनका परिवार राज्य करता आ रहा है।

अब साधारण रूपसे यह देखना है कि राजतन्त्रमें क्या गुण और दोष हैं। प्रत्येक बातका विचार करते समय यह आवश्यक है कि उसकी दोनों बाजुयें दिखलायी जावें। अतएव हम यहां राजतन्त्रके गुण और दोषोंकी समालोचना करना चाहते हैं। यह कहनेकी तो आवश्यकता नहीं कि राजतन्त्र शासनप्रणाली संसारमें अत्यन्त प्राचीन है। संसारमें इसका कबसे प्रादुर्भाव हुआ, इसका ठीक ठीक प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। जो कुछ मिलता है, वह विश्वसनीय नहीं। अठारहवीं सदीके शुरू

सिद्ध दार्शनिक और इतिहासवेत्ता मि० ह्यूमने कहा था— "यद्यपि आधुनिक कालमें सब प्रकारकी राज्य-प्रणालियोंमें सुधार हुआ है, पर राजतन्त्र (Monarchial Government) ने पूर्णता (Perfection) की ओर सबसे अधिक प्रगति की है। सभ्य राज्यतन्त्र रिपब्लिककी तरह कानून और विधिके राज्य होने लगे हैं। उनमें व्यवस्था-पद्धति और स्थिरता दीखने लगी है। वहां धन माल सुरक्षित हैं। उद्योग धन्धोंका उत्तेजन मिल रहा है। हुनर और कलाकौशल तरक्की पा रहे हैं। राजा लोग प्रजाके साथ वैसा बर्ताव करने लगे हैं, जैसे पिता पुत्रके साथ करता है।" इस प्रकार कुछ अन्य महानुभावोंने भी राजतन्त्र शासनप्रणालीकी और उससे होनेवाले लाभोंकी प्रशंसा की है।

राजतन्त्रके गुण।

जो लोग राजतन्त्रके हिमायती हैं, वे इस राजतन्त्रके पक्षको कई तरहसे पुष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि इसमें सारी शक्ति एक जगह केन्द्रीभूत रहती है इसलिये राज्य-शासनमें मतभेद हो जानेसे शक्तियोंके बिखर जानेका जो डर रहता है, वह इसमें नहीं रहता। जबतक कैसरके हाथमें जर्मनका राज्यसूत्र था, तबतक वहां जिस एकता और पूर्णतासे राज्यशासन चलता था, तथा राष्ट्रकी शक्तियोंका जैसा बढ़िया सङ्गठन था, वैसा आज नहीं है। यद्यपि वहां आज प्रजातन्त्र है, पर वहांकी शक्तियां बिखर गयी हैं। वहां बात बातमें मतभेद और विरोध हो रहा

है। कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ। इसके सिवा कैसरके समयमें जर्मनीकी सर्वाङ्गमुखी जो उन्नति हो रही थी वैसी आज नहीं हो रही है। इस प्रकारके उदाहरण देकर वे अच्छे राजतन्त्रको कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्रसे श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं कि कभी कभी योग्य, प्रजाप्रेमी और शासन-चतुर राजाके राज्यमें प्रजा जैसी तरक्की कर जाती है, वैसी प्रजा कभी कभी प्रजातन्त्रमें भी नहीं कर पाती।

दूसरी बात यह है कि जिन देशोंमें सभ्यताका यथेष्ट विकास नहीं हुआ है, जहांकी प्रजा सुसंस्कृत, योग्य तथा शासन-क्षम नहीं है, वहां कई राजनीतिविशारदोंके मतानुसार जैसा सुयोग्य और परोपकारी राजतन्त्र सफल हो जाता है, वैसा प्रजातन्त्र नहीं होता। इसे दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जहां लोगोंका यथेष्ट रूपसे राजनीतिक विकास नहीं हुआ है, जहांके लोग शासनकार्यमें हिस्सा लेनेके लिये अयोग्य है, जहांके लोगोंकी राजनीतिक भावनायें बिलकुल अपूर्ण या सुषुप्ति अवस्थामें हैं, वहांकी स्थितिके अनुकूल विशेष तौरसे राजतन्त्र ही हो सकता है। यहां यह तो अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि यह बात अच्छे और लोकप्रिय राजतन्त्रके लिये कही जा रही है। अत्याचारी और स्वेच्छाचारी राजतन्त्र तो सर्वत्र बुरा है, उसका अनुमोदन तो किसी स्थितिमें नहीं किया जा सकता। अमेरिकाके सुप्रसिद्ध विद्वान् मि० गार्नरका कहना है कि लोगोंको जङ्गली अवस्थासे निकालकर सभ्य अवस्थामें पहुंचानेके

लिये और उनमें नियमबद्धता (Discipline) का गुण लानेके लिये जितना काम राजतन्त्र दे सकता है, उतना कोई दूसरा तन्त्र नहीं दे सकता। इंग्लैण्डके विश्वविख्यात लेखक जान स्टुअर्ट मिलका कथन है—"जङ्गली आदमियोंके साथ व्यवहार करनेके लिये एकतन्त्रीय शासनप्रणाली ही सर्वथा उपयुक्त है। हां, उन जङ्गली मनुष्योंको सुधार कर सभ्य बनाना उसका उद्देश्य अवश्य होना चाहिये।" आगे चलकर फिर मिल महोदय कहते हैं—"जबतक मनुष्य-जाति इस अवस्थापर न पहुंच जावे कि वह गहनतम मामलोंमें स्वतन्त्रताके साथ वादानुवाद न कर सके, तबतक उनपर स्वाधीनताका तरह कुछ नियमित मर्यादामें लगाना चाहिये।" कई पाश्चात्य लेखकोंका कथन है—"मध्ययुग या प्राचीन युगके लिये राजतन्त्र शासनप्रणाली ही उपयुक्त थी। उसीका अस्तित्व उस वक्त मुनासिब (Justified) था। उस वक्तकी स्थितिमें अन्य शासनप्राणालीका सफल होना कठिन था। राजतन्त्र शासनप्रणालीहीने अन्य प्रकारकी शासन-प्रणालियोंका मार्ग साफ किया।"

राजतन्त्रके दोष।

अबतक हमने विशेष रूपसे राजतन्त्रके गुणोंपर ही विचार किया है। अब उसके दोषोंको भी देख लीजिये। हम ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारके दोषोंपर अलग अलग विचार करेंगे। पहले सर्वसत्ताधारी राजतन्त्र (Absolute Monarchy)को लीजिये। यह बात तो साफ है कि जिन लोगोंके लिये राज्य किया

६

जाता है, उनका उसकी शासनप्रणालीमें कोई हाथ नहीं रहता। हां, राजा चाहे तो अपनी मर्जीसे थोड़ेसे हक प्रजाको दे देता है; पर यह बात राजाकी मर्जीपर है। इस शासनप्रणालीमें जो कुछ एक आदमी—राजा ठीक और योग्य समझता है, उसकी समझमें जो बातें ठीक जँचती हैं; वही करता है। मतलब यह कि हजारों लाखों प्रजागणोंका शासन एक मनुष्यके हाथमें रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ कर्त्तव्यक्षम और आदर्श राजाओंको छोड़कर अधिकांश राजा शासनमें जितना अपना हित सोचते हैं उतना प्रजाका नहीं सोचते। प्रजाके हित और स्वार्थका बलिदानकर वे अपना स्वार्थ और हित साधते हैं। गरीब प्रजाकी कठिन कमाईके धनको किस प्रकार अपने ऐश आराममें, अपनी नीच वासनाओंकी पूर्तिमें बरबाद करते हैं, इसके सैकड़ों उदाहरण आज हमारे सामने हैं। 'Development of European Polity' नामक ग्रन्थमें लिखा है—"सब राजतन्त्रकी प्रवृत्ति स्वेच्छाचारिता और उसकी बुराइयोंकी ओर होती है। इसमें राजाके हित और स्वार्थको बहुत स्थान मिलता है। लोगोंके स्वार्थोंके बलिदानपर कई राजाओंकी नीच वासनाओंकी पूर्ति होती है। इस प्रकारकी कई बुराइयां राजतन्त्रमें हैं।"

अगर यह भी मान लिया जावे कि किसी राजतन्त्रीय शासनमें धर्मराज्य हो रहा है, प्रजा सुखी है, राजकोष अच्छे कामोंमें खर्च किया जाता है, शासन बड़ी क्षमता और योग्यतासे चलाया

जाता है, तोभी इन सब उच्च गुणोंके होते हुए भी आजकलके जमानेमें यह शासनप्रणाली श्रेष्ठतम नहीं समझी जा सकती। हां, ऐसे धर्मशील और न्यायी राजाको आदर्श और धर्मावतार कह सकते हैं, पर इस वक्त एक तन्त्रीशासन, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, आदर्श नहीं माना जा सकता। क्योंकि शासनमें योग देनेसे प्रजापर जिम्मेदारी पड़ती है और जिम्मेदारी-से मनुष्यकी आत्माका विकास होता है, उसमें शासन-क्षमता आती है। यह बात अच्छेसे अच्छे राजतन्त्रमें भी उतनी सम्भव नहीं, जितनी प्रजातन्त्रमें है। सरकारका उद्देश केवल प्रजाको सुखी और संतोषी करना ही नहीं है, उसकी शक्तियोंका विकास और उनके फूलने फलनेके अनुकूल अवसर भी उपस्थित करना है। आजकलके जमानेमें सरकारका वही रूप अच्छा समझा जाता है, जिसमें लोगोंका हिस्सा हो, और जिसके द्वारा शासनक्षम योग्य नागरिकोंकी उत्पत्ति हो। सरकारका ऐसा ही रूप आज-कल आदर्श समझा जाता है। इसके अतिरिक्त राजतन्त्र शासन-प्रणालीमें और भी अनेक दोष हैं, उन सबका विवेचन करना यहां संभव नहीं। अब हम यहां वंशपरम्परागत राजतन्त्रप्रणा-लीकी थोड़ी सी समालोचना करते हैं।

वंशपरम्परागत राज्य-पद्धतिके गुणदोष।

राजतन्त्रके पक्षमें जो कुछ कहा जाता है उसका निष्कर्ष यही है कि पिताके गुण कुछ न कुछ अंशमें पुत्रमें उतरते हैं। आधुनिक विज्ञानने भी किसी अंशतक इस बातको स्वीकार

किया है। पर इस नियममें जो अपवाद (Exceptions) देखे जाते हैं, वे भी कम नहीं हैं। दुर्गुणी पिताके सद्गुणी पुत्र होने तथा सद्गुणी पिताके दुर्गुणी पुत्र होनेके सैकड़ों उदाहरण दिखलायी देते हैं। यह कोई निश्चित बात नहीं है कि गुणवान पिताके गुणवान ही पुत्र उत्पन्न हों। इसी प्रकार किसी सद्गुणी और बुद्धिमान् राजाके सद्गुणी और बुद्धिमान ही पुत्र उत्पन्न होंगे, इसका कोई नियम नहीं है। सम्भव है कि उसके दुर्गुणी, लम्पट और अयोग्य पुत्र भी उत्पन्न हो जायं। अतएव योग्यता और अयोग्यता सद्गुण या दुर्गुणकी विना परीक्षा किये ही केवल इसी बातपर कि वह राजाका लड़का है किसीको राजगद्दीपर बैठा देना और हजारों लाखों आदमियोंके भाग्यकी बागडोर उसके हाथ सौंप देना कहांतक उचित है, इसका विचार प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धिसे कर सकता है। इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि कई बार इसी पुश्तेनी पद्धतिके कारण राजगद्दीपर ऐसे अनुभवहीन, अयोग्य और शासनअक्षम राजा बैठाये जाते हैं जो इन्द्रियोंके गुलाम बनकर दिनरात विषयासक्त रहते हैं और प्रजाके कठिन कमाईके धनको अधिकांश रूपसे प्रजाहितमें न लगाकर अपनी नीच वासनाओंकी तृप्तिमें लगाते हैं। फ्रान्समें पांच सौ वर्षतक निरन्तर ऐसे राजा राज्यासीन किये गये, जिनकी उम्र राज्याभिषेकके समय पचीस-वर्षसे भी कम थी। सौ वर्षतक तो वहां ऐसे राजा गद्दीपर बैठते रहे जो उस समय इकोस वर्षकी आयुके भी न थे। हमारे भारत-

वर्षमें तो हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहां देशी राज्योंमें सर्वत्र पुश्तैनी पद्धति मौजूद है। अठारह वर्षका लड़का यहां गद्दीपर बैठा दिया जाता है। उसकी शिक्षा ऐसे वायुमण्डलमें होती है, जिससे वह संयमी और प्रजाहितैषी बननेके बदले परले दर्जेका लम्पट और विलासप्रिय बनता है, प्रजाप्रेमी बननेके बदले गौराङ्गोंका दास बनता है। वह तो यह समझ बैठता है कि राज्य मेरी मौरूसी जायदाद है। इसका जैसा चाहूं वैसा उपयोग करनेका मेरा अधिकार है। प्रजाको इसमें चूं करनेका कोई हक नहीं। वह मनमाने रूपसे धन उड़ाता है। प्रजापर चाहे जैसे मनमाने अत्याचार करता है। उसे अपनी जिम्मेदारीका तनिक ख़्याल नहीं रहता। हमारे हिन्दूशास्त्रोंमें राजाके जो दिव्य आदर्श बतलाये हैं, उनका उसे ज्ञान नहीं रहता। हमारे कहनेका मतलब यह नहीं है कि आधुनिक कालके सब ही देशी राजा अयोग्य और बेलगामके घोड़े हैं। उनमें कुछ अच्छे और प्रजाप्रेमी तथा न्यूनाधिक रूपसे अपनी जिम्मेदारीको समझनेवाले हैं, पर इनकी संख्या अंगुलीपर गिनने योग्य भी नहीं निकलेगी। अधिकांश राजा उपरोक्त ही श्रेणीके हैं। इन सब बातोंसे यही तथ्य निकलता है कि वंशपरम्परागत पद्धतिमें जहां थोड़ेसे गुण हैं, वहां अनेक दोष हैं। तिसपर भी जहां राजाकी शक्तियां अमर्यादित रहती हैं, किसी विधि (Constitution) या प्रजामतसे नियमित नहीं रहतीं, वहां तो राज्यकी यह पुश्तैनी पद्धति अत्यन्त हानिकारक है। यद्यपि ऐसी दशामें भी कुछ आदर्श

राजा निकल आते हैं, पर वे केवल अपवाद रूप रहते हैं। उनसे इस पद्धतिका किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता।

४ उच्च जनसत्तात्मक राज्य

जिस शासनप्रणालीमें थोड़ेसे लोगोंके हाथमें या किसी विशिष्ट उच्च वर्गके हाथमें उच्च राज्यसत्ता रहती है, उसे अंग्रेजीमें एरिस्टोक्रेसी "Aristocracy" कहते हैं। हिन्दीमें इसे उच्च या अल्पजनसत्तात्मक राज्य कह सकते हैं। यह कई प्रकारका होता है। एक तो वह जिसमें राज्यसत्ता कुछ उच्च वंशके लोगोंके हाथमें हो, दूसरे वह जिसमें कुछ धनवान लोगोंके हाथमें राज्यसत्ता हो, तीसरे वह जिसमें पण्डितों और विद्वानोंके हाथमें हो। मतलब यह कि इस अल्पजनसत्तात्मक शासन-प्रणालीमें जनताके थोड़ेसे लोग ही राज्यसूत्र चलाते हैं।

राजनीतिशास्त्रके कितने ही पण्डितोंका कहना है कि अगर इस शासनप्रणालीमें वे ही लोग राज्यचक्र चलावें, जो योग्यता और सद्गुणोंमें सर्वोत्तम श्रेणीके हों, तो इस शासन-प्रणालीका समर्थन बड़ी अच्छी तरह किया जा सकता है। प्राचीन ग्रीक लोगोंकी यही भावना थी कि राज्यसूत्र उन्हीं लोगोंके हाथमें रहे, जो नैतिक और बौद्धिक दृष्टिसे सर्वोपरि श्रेणीके हों। उन्होंने अल्पजनसत्तात्मक राज्यका दूसरा नाम "सर्वोत्तम मनुष्योंका शासन" रखा है। पहले पहल इस शासन-प्रणालीका बड़ा आदर था। पर पीछे जाकर इसका रूप विकृत हो गया। "सर्वोत्तम मनुष्योंका यह शासन" धनकुबेरोंके शासनमें परिणत हो गया।

धनवान या राजवंशके लोग अपने स्वार्थ और हितको सामने रखकर शासन करने लगे। इसीसे इसका महत्व घट गया और आधुनिक संसारमें राज्यकी पद्धति सर्वोत्तम और आदर्श नहीं समझी जाती है।

उच्च या अल्पजनसत्तात्मक राज्यके तत्वतः जो मूल आदर्श हैं, उनपर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। यह शासन-प्रणाली गुण को महत्व देती है, संख्याको नहीं अर्थात् थोड़ेसे गुणी मनुष्योंके शासनको यह जितना अभीष्ट समझती है, उतना जनताके महाविशाल समूहके शासनको नहीं समझती। यह झुंडके शासन (Mob-rule) को नापसन्द करती है। इसका सिद्धान्त है कि कुछ मनुष्य अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा शासन करनेमें अधिक क्षम रहते हैं। यह अनुभव और राजनीतिक प्रतिभाका अधिक आदर करती है। प्राचीन शासनप्रणालीको स्थिर रखना चाहती है। यह परम्परागत सत्तामें आकस्मिक क्रान्ति करनेकी विरोधी रहती है। पुराने रीतिरिवाजों और इतिहासपर हड़ताल फेरना यह पसन्द नहीं करती। उन संस्थाओंको जो दीर्घ समयसे आदरणीय गिनी जा रही हैं, एकाएक नाश करना नहीं चाहती। यह राजतन्त्र (Monarchy) और प्रजातन्त्र (Democracy) के बीचकी प्रणाली है, जो दोनोंको सीमोल्लंघन करनेसे रोकती है। यह दोनोंको उचित संयममें रखना चाहती है।

मांटेस्कके कथनानुसार यह एक नर्म राज्यपद्धति है, जो सद्गुणपर निर्भर करती है। इसमें पुश्तैनी जो शक्ति है, वह

प्रजातन्त्रमें नहीं है। यह अपने अधिकार और शक्तिका नादानीसे उपयोग नहीं करती। यह बहुत संभल संभलकर आगे पैर रखती है। अगर इसमें प्रतिभाशाली और योग्य मनुष्योंका चुनाव होता रहे तो इसके खिलाफ़ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अगर लोकसमूहकी दृष्टिसे विचार न कर केवल सरकारके गुणोंकी दृष्टिसे विचार किया जावे तो यह कहना पड़ेगा कि अशिक्षित और अज्ञानी लोकसमूहके शासनसे इसमें अधिक शक्ति और योग्यताके तत्व हैं। जान स्टुअर्ट मिलका भी कथन है कि जो सरकारें अपनी तुली हुई मानसिक योग्यता और शक्ति (Vigor) के लिये सुप्रसिद्ध हुई हैं उनमें ज्यादातर अल्पजनसत्तात्मक सरकार ही है। हां यह बात अवश्य है कि इस प्रणालीमें वे ही लोग होने चाहिये जिन्होंने सार्वजनिक कार्य्य और सार्वजनिक जीवनहीको अपने जीवनका लक्ष्य बना रखा हो।

उच्च या अल्पजनसत्तात्मक राज्यपद्धतिके दोष

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दीखनेमें यह राज्यपद्धति बड़ीही अच्छी मालूम होती है। पर इसमें कुछ व्यावहारिक अड़चनें ऐसी हैं कि जिनका हल होना बड़ा कठिन है। पहली बात यह है कि किस तत्त्वके आधारपर ऐसा चुनाव किया जावे जिसमें राजनीतिक दृष्टिसे सर्वोत्तम मनुष्योंका ही चुनाव किया जा सके। दूसरी बात यह है कि इस बातका जिम्मा कैसे किया जावे कि ये लोग शासनमें अपने अधिकारोंका अपने लाभ और स्वार्थकी पूर्तिके लिये उपयोग न कर सकें। यह बात तो अब प्रायः सर्व-

सम्मत है कि किसी खास और विशिष्ट कुटुम्बपर राजनीतिक योग्यताका सिक्का लगा देनेसे काम नहीं चलता।* क्योंकि जैसा हम पहले कह चुके हैं बुद्धिमान् बापका लड़का नालायक निकल जाता है और नालायक बापका लड़का बुद्धिमान् निकल जाता है। इस प्रकारके अकारण भेद (Spontaneous variation) बहुत होते हैं। अतएव किसी राजनीतिधुरन्धर पिता या कुटुम्बकी भावी संतानें भी उसी योग्यताकी होंगी, इस बातका कोई निश्चय नहीं कर सकता। इतना होनेपर भी कुछ गम्भीर और नामी लेखकोंने खुल्लमखुला नहीं परन्तु पुश्तैनी-तत्त्वपर अल्पजनसत्तात्मक राज्यके सङ्गठनको समर्थन करनेका प्रयत्न किया है। सर हेनरी मेनका कथन है कि "पुश्तैनी राज्यकार्य्य करनेवाले लोगोंमें राज्यकार्य्यके योग्य उतनेही मनुष्य सम्भवतः मिल सकते हैं, जितने सर्वसाधारणके चुनाव (Popular election) से मिल सकते हैं।

प्रोफेसर सिली महोदयका कथन है—"वह मनुष्य जो राजनीतिज्ञका पुत्र है, कुछ न कुछ राज्यके मामलोंसे परिचय रखता ही है, क्योंकि वह दिन रात राजनीतिक वायुमण्डलमें रहता है।" इङ्गलैण्डके सुप्रख्यात् इतिहास लेखक लेकी महोदयने

* राजपूतानेमें मुत्सद्दी एक कौम है, इस कौमके कुछ लोगोंने राजनीतिक योग्यताका परिचय कभी दिया होगा, इसीसे उनकी कौमही मुत्सद्दी नामसे मशहूर हो गयी। यह कौम अपने आपको राजधुरन्धर मानती है। ऐसे भारतके अन्य प्रान्तों और यूरोपमें भी उदाहरण मिलते हैं।

बेन्जमिन फ्रेंकलीनके इस कथनका खण्डन किया है कि कानून-पण्डितोंके कानून-पण्डितही या शासकोंके शासकही पुत्र होते हैं। यह बात उतनी ही भद्दी है जितनी कि यह बात है कि महान गणितज्ञका पुत्र भी महान गणितज्ञ होता है।" यह बात निर्मूल है कि प्रतिभाशाली पिताकी प्रतिभा सर्वदा और सर्वत्र पुत्रमें उतनी ही चाहिये। लेकी महोदय कहते हैं—यदि हम पांच सौ ऐसे कुटुम्बोंको लें जिनका पुश्तैनी धन्धा राज्यकार्य है, और जिनकी स्वाभाविक भावनायें भी राजनीतिक हैं तो क्या हमें इन कुटुम्बोंमें अधिक राजनीतिज्ञ और शासनपूर्ण नहीं मिलेंगे ? इसी संख्याके अन्य कुटुम्बोंसे स्वभावतया ही उपरोक्त कुटुम्बोंमें अधिक राजनीतिज्ञ मिलेंगे। सफल राजनीतिक जीवनके लिये तत्वज्ञान और कविताकी तरह असाधारण बुद्धि और प्रतिभाकी उतनी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये केवल निर्णयशक्ति, उद्योग, चतुराई और मनुष्य-स्वभावके ज्ञानकी आवश्यकता है। ये गुण असाधारण बौद्धिक-शक्तिके विना भी पूर्णतापर पहुंच सकते हैं। यद्यपि लेकी महोदयके इस कथनमें सत्यका अंश है पर साथ ही उनके इस कथनमें कई त्रुटियां भी हैं। यहां यह सवाल नहीं है कि कौन कौनसे कुटुम्बोंमें शासन करने लायक अधिक मनुष्य मिल सकते हैं। सम्भव है कि जिन खानदानोंका परम्परासे हा धन्धा राज्यकार्य्य है उनमें अधिक राज्यकार्य्य धुरन्धर निकल जावें। पर सवाल इस बातका है कि क्या कोई ऐसा निश्चित नियम है कि राज्यकार्य्य-धुरन्धरके घर राज्यकार्य्य-धुरन्धरही

संतान पैदा हो। क्या कई ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि बड़े भारी राजनीतिज्ञोंके ऐसे भी पुत्र हैं जिनमें मुत्सद्दीपनका गुण मामूली आदमीके बराबर भी नहीं है। इसके अलावा इसमें जो त्रुटियां हैं उन्हें हम ऊपर दिखला चुके हैं।

इसी प्रकार धन, जमीन, जायदाद या व्यक्तित्व भी राजनीतिक योग्यताके खास चिह्न नहीं हैं। जो लोग इन बातोंसे राजनीतिक योग्यताकी परीक्षा करते हैं वे गहरी भूल करते हैं। इन बातोंका राजनीतिक योग्यतासे कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं। जेफरसन नामक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञका कथन है कि वह अल्पजनसत्तात्मक शासन (Aristocracy) जिसका पाया धन और जन्म पर है केवल शरारतसे भरी हुई ही नहीं है पर साथही भयङ्कर भी है। हां वह उच्चजनसत्तात्मक शासन-प्रणालीको, जो सद्गुण और योग्यतापर निर्भर करती है, सर्वोत्तम समझता है। सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी रूसो-निर्वाचित उच्चजनसत्तात्मक शासन-प्रणाली सर्वोत्तम है, जहां सबसे अधिक बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्वार्थके लिये नहीं वरन् जनताके हितके लिये शासन करते हैं। इस प्रकारकी शासन-प्रणाली जिसमें जनता द्वारा चुने हुए सबसे अधिक बुद्धिमान् और योग्य-मनुष्य शासन करते हैं, आधुनिक कई लेखकोंके मतानुसार भी उत्तम शासन-प्रणाली है। पर जब जनता द्वारा चुने हुए सर्वोत्तम मनुष्य शासन करें तो वहां प्रजासत्तात्मक राज्य हो जाता है।

प्रजासत्तात्मक शासन

लोकसत्तात्मक शासन राज्यके उस सङ्गठनको कहते हैं, जिसमें जनता या जनताका अधिकांश हिस्सा * प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे राज्यशासनमें भाग लेता हो। आजकलका प्रजासत्तात्मक राज्य इस तत्त्वपर निर्भर करता है कि हर एक प्रामाणिक तथा अपना हिताहित समझनेवाले व्यक्तिको राज्य-कार्य्यमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे भाग लेनेका अधिकार है। जेफरसन नामक विख्यात राजनीतिक लेखकका कथन है कि आजकलके लोकसत्तात्मक राज्योंका सब दारोमदार अधि-कांश जनताकी योग्यता तथा मध्यम श्रेणीके मनुष्य या मनुष्योंकी योग्यतापर है; क्योंकि ये ही लोग शासकोंको चुनते हैं। कितने ही लेखकोंका कथन है कि किसी राज्यकी नींव जनसत्तापर कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो पर राज्यकार्य्य करनेका भार तो नियमित संख्याके लोगों ही पर डालना पड़ता है अर्थात् व्यावहारिक दृष्टिसे वह प्रजासत्तात्मक होते हुए भी तत्वतः उच्चजन या अल्पजनसत्तात्मक ही रहता है। एक अमेरिकन लेखकका कथन है कि सबकी सब जनता राज्यकार्य उसी प्रकार नहीं कर सकती जिस प्रकार एक गाड़ीमें बैठे हुए सबके सब लोग घोड़ोंको नहीं हांक सकते, पर तोभी कोई घोड़े-को हांकेगा ही। इसी प्रकार शासनकार्य भी नियमित लोगोंतक ही परिमित रहता है।

---

*पागल, दुष्ट, नाबालिक बच्चे आदि कुछ लोगोंका हिस्सा इसमें नहीं रहता है।

आजकलका समय जनसत्तात्मक शासनका है। आजकल यही शासनप्रणाली सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। क्योंकि इस शासन-प्रणालीमें सर्वसाधारण जनताकी इच्छाएं, भावनाएं और आवश्यकताएं जितनी अच्छी तरहसे व्यक्त हो सकती हैं तथा जितनी अच्छी तरहसे उनकी पूर्ति हो सकती है, उतनी अन्य किसी शासनप्रणालीमें नहीं हो सकती। जिन लोगोंके लिये शासन किया जाता है, उनको इसमें पूरी आवाज रहती है। इसमें लोगोंके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि शासन करते हैं। अतएव वे अपने कार्य्योंके लिये उन लोगोंके सामने जिम्मेदार रहते हैं जिन्होंने उन्हें चुना है। या दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि प्रजा-प्रतिनिधि अपने कार्योंके लिये प्रजाके सामने जिम्मेदार रहते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि इन प्रतिनिधियोंके लिये शासनमें अपने स्वार्थों या हितकी पूर्ति करनेके बहुत ही कम अवसर रह जाते हैं। क्योंकि उन्हें प्रतिक्षण इस बातका ख्याल रहता है कि हमें अपने कार्योंके लिये प्रजाको जवाब देना है।

सुप्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक (Political philosopher) जान स्टुअर्ट मिलका कथन है--"सब लोग या लोगोंका अधिकांश भाग अपने चुने हुए प्रतिनिधियोंके द्वारा जिस राज्यमें शासन करता है, उसे प्रजासत्तात्मक राज्य कहते हैं। आदर्शकी दृष्टिसे राज्यका वही सर्वोत्तम रूप है जिसमें अन्तिम अधिकार जनता-के हाथमें रहता है, जिसमें हर एक मनुष्यको आवाज उठानेका हक़ रहता है। केवल उसी सरकारसे समाजकी आवश्यकताएं

पूरी हो सकती हैं,जिसमें या तो सब लोग भाग लें या इतने लोग भाग लें जो समाजके सामान्य हितकी दृष्टिसे आवश्यक हैं।"

यह तो हुईं प्रजासत्ताकी साधारण व्याख्याएं, अब यह देखना है कि प्रजासत्तात्मकमें वे कौनसे विशेष गुण हैं, जिनकी बदौलत वह आज संसारमें प्रायः सर्वमान्य हो रहा है। अमेरिका-के सुप्रसिद्ध राजनीतिक मि०गार्नरका कथन है—"प्रजासत्तात्मक राज्यमें सर्वोत्तम गुण और विशेषता यह है कि वह जनताको उठाता है, उसमें रही हुई शक्तियोंका आविष्करण और विकास करता है, राज्यकार्योंके लिये उसका उत्साह बढ़ाता है और शासनमें उसे योग्य स्थान देकर उसकी स्वदेश-भक्तिको दृढ़ करता है। प्रजातन्त्र इस बातसे साफ़ इन्कार करता है कि कुछ मनुष्योंने तो शासन करनेके ही लिये जन्म लिया है और कुछ लोगोंने केवल उनकी आज्ञा पालनेहीके लिये जन्म धारण किया है। प्रजातन्त्र इस बातको नहीं मानता कि कुछ आदमी जन्महीसे बड़े होते हैं। वह सबको राजनैतिक दृष्टिसे समान पायेपर रखना चाहता है। लेव्हेले (Laveleye) महाशयका कथन है—"राजनीतिक दृष्टिसे कोई आदमी स्वतन्त्र नहीं है। जिस शासनमें, जिस सर-कारमें जनताका हिस्सा नहीं रहता उसके लिये स्वार्थत्याग करनेके लिये स्वभावतया ही वह तैयार नहीं होता। प्रजातन्त्रसे जनतामें रही हुई स्वदेशभक्ति विकसित होती है, क्योंकि इसमें हर एक नागरिक यह जानता है कि सरकार हमारी है और सरकारी काम करनेवाले अधिकारी हमारे ही नौकर हैं। इसके अतिरिक्त

प्रजातन्त्रकी स्थापना समानता और लोकमतकी नींवपर होनेके कारण वे क्रान्तियोंके भयसे भी मुक्त रहते हैं। डी टार्कविल (De Toequeville) महोदयका कथन है "आजतक संसारमें जितनी क्रान्तियां हुई हैं और जिन्होंने संसारके रूपको बदल दिया है वे असमानताके नाश करनेहीके लिये हुई हैं।" यही महाशय अपने एक अन्य ग्रन्थमें लिखते हैं कि प्रजातन्त्र नागरिकताकी शिक्षा देनेवाली शाला है। जान स्टुअर्ट मिल महोदयने भी प्रजातन्त्रकी प्रशंसा करते हुए यह स्वीकार किया है कि प्रजातन्त्र जनताके चरित्र और बौद्धिक शक्तिको विकसित करनेमें बड़ी ही सहायता पहुंचाता है और किसी शासन या सरकारकी श्रेष्ठता इसीसे प्रकट होती है कि उसमें प्रजाकी मानसिक, नैतिक, आर्थिक और बौद्धिक शक्तियोंको कहांतक उत्तेजना मिलती है। इन शक्तियोंके बढ़ानेमें सरकारका जो रूप सबसे अधिक अनुकूल होता है, वह उसका सबसे अच्छा रूप है।

प्रजासत्तात्मक शासनके दोष।

अबतक हमने लोकसत्तात्मक राज्य या प्रजातन्त्रके गुणोंका ही विवेचन किया है, पर प्रत्येक पदार्थमें जहां गुण होते हैं, वहां कुछ न कुछ दोष भी अवश्य ही होते हैं। निर्दोष तो केवलमात्र परमात्मा है। भूतकालके कुछ लेखकोंने प्रजातन्त्रके दोषोंको दिखलानेकी बड़ी चेष्टा की है। ये लोग क्या कहते हैं, अब हम उसीका विवेचन करते हैं।

इनका कथन है कि प्रजातन्त्र गुणपर निर्भर नहीं करता, वह

संख्यापर निर्भर करता है अर्थात् वह गुणशाली मनुष्योंका शासन नहीं है बल्कि जनसमुदायका शासन है। वह इस बातकी उपेक्षा करता है कि जिस प्रकार अन्य कार्य्यक्षेत्रोंमें विशेष योग्यताकी आवश्यकता होती है वैसे ही राज्यकार्य्य में भी होती है। वह इस झूठे सिद्धान्तपर काम करता है कि सब मनुष्योंमें शासन करनेकी क्षमता बराबर है अर्थात् जितनी शासन करनेकी क्षमता एक मनुष्यमें है, उतनी ही दूसरेमें है। वह यह मानकर चलता है कि सब ही मनुष्य राजनीति-धुरन्धर हैं। जस्टिस जेम्स महोदयका कथन है कि "सुशासनके लिये विशेष ज्ञानकी, विविध प्रकारकी मानसिक शक्तिके विकासकी और शान्त और संयमयुक्त निर्णयशक्तिकी आवश्यकता है। अज्ञानता और अयोग्यताको जितनी घरेलू काम काजमें टालनेकी जरूरत है उतनी ही राज्यशासनमें भी टालनेकी जरूरत है। अज्ञानता, अयोग्यता और संयमहीनताका जैसा बुरा परिणाम घरेलू कार्योंमें होता है, उससे कई गुना अधिक भयंकर परिणाम राज्यकार्योंमें होता है। मिल और मांटेस्क्यू महोदयने भी प्रजातन्त्रकी प्रशंसा करते हुए इतना संकेत तो अवश्य किया है कि प्रजातन्त्र वहीं व्यावहारिक रूपसे सफल हो सकता है, जहांकी सर्वसाधारण जनता बुद्धि, योग्यता और चरित्रमें ऊंचे दर्जेकी हो। बर्क महोदयने प्रजातन्त्रकी कड़ी समालोचना करते हुए लिखा है कि इस शासनप्रणालीमें उत्तरदायित्वहीन लोगोंके हाथमें सत्ता चली जाती है। इससे बड़ा नुकसान होता है।

कुछ लेखकोंने इस शासनप्रणालीकी बुराई दिखलाते हुए लिखा है कि "प्रजातन्त्र कला कौशल, विज्ञान और संस्कृतिके लिये अनुकूल नहीं है।"*प्रजातन्त्रीय सरकार न तो प्रत्यक्ष रूपसे इन्हें उत्तेजना पहुंचाती है और न ऐसी स्थिति उत्पन्न करती है, जिससे अप्रत्यक्ष रूपसे इन्हें प्रोत्साहन मिले।

सुप्रख्यात अंग्रेजी लेखक सर हेनरी मेन और प्रोफेसर डब्ल्यू० ई० एच० लेकीने प्रजातन्त्रकी कड़ी समालोचना की है।

प्रजातन्त्रकी इन सब अनुकूल और प्रतिकूल समालोचनाओंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रजातन्त्र ही सब शासनप्रणालियोंमें उत्तम है, क्योंकि इसका पाया मानवीय स्वाधीनता और मानवीय समानतापर लगा हुआ है। इससे मनुष्यकी बुद्धि और कार्य्यकारी शक्तियोंके विकासको आश्चर्यकारक उत्तेजना मिलती है। उसकी स्वदेशभक्ति दृढ़ होती है। सारे समाजके हितके लिये शासन होता है। पर साथ ही हम दूसरे मतको भी पसन्द करते हैं। हमारा विश्वास है कि प्रजातन्त्रको सफलताके लिये यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण जनताका चरित्र ऊंचा हो, उसमें सद्गुणों और संयमका विकास हो। जिस जनतामें योग्यता नहीं, चरित्रबल नहीं, संयम शक्ति नहीं वह प्रजातन्त्रके योग्य नहीं है। बेजिम्मेदार और संयमहीन अयोग्य लोगोंके हाथमें शासन होनेसे लाभके बदले नुकसान होता है। हमारे कहनेका निष्कर्ष यह है कि अगर जनता

* ब्लन्शले प्रभृति लेखकोंने इस बातका खण्डन किया है

योग्य और संयमी हो तो प्रजातन्त्र शासनकी ही सर्वश्रेष्ठ विजय-दुन्दुभी बजेगी। इसका क्षेत्र दिनोंदिन अधिकाधिक व्यापक होता जा रहा है। भविष्यमें इसका क्या रूप होगा, इसका उत्तर समयकी परिस्थितिपर ही छोड़ना अच्छा है।

५ व्यक्तिवाद।

व्यक्तिवादी अराजकवादियों (Anarchists) की तरह राज्यको अनावश्यक नहीं समझते। वे किसी न किसी रूपमें समाजकी वर्त्तमान दशामें, राज्यको आवश्यक समझते हैं। हां अराजकवादियोंकी तरह व्यक्तिवादियोंका भी यह मत है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। उनका कहना है कि राज्यका कार्यक्षेत्र जहांतक सम्भव हो, इतना संकीर्ण कर देना चाहिये कि सिवा शान्तिरक्षा, सुव्यवस्था और लोगोंके जानमालकी हिफाजतके उसके अधिकारमें अन्य कोई काम ही न होना चाहिये। व्यक्तिवाद बाहरी रुकावटको अच्छा नहीं समझता और साथ ही उसका यह भी सिद्धान्त है कि जितना अधिक राज्यका कार्यक्षेत्र विस्तृत होता है, उतनी ही व्यक्तिगत स्वाधीनतामें बाधा पड़ती है। व्यक्तिवादका सिद्धान्त है कि मनुष्यमें अहंकार, अज्ञानता आदि दोष परम्परागत स्वभावसे रहते हैं और इन्हीं दोषोंके वशीभूत होकर वह अपने निजी स्वार्थके लिये दूसरेके स्वत्वोंपर वार करता है। मनुष्यकी इस कुप्रवृत्तिको उचित सीमासे बाहर न होने देनेके लिये

राज्यकी आवश्यकता है। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च लेखक ज्यूल्स साईमनने तो व्यक्तिवादकी सीमाको बहुत बढ़ाकर यहांतक कह डाला है कि राज्यको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे वह अपने आप बेकाम हो जावे और वह अपनी मृत्युके लिये आप तैयारी करे। विख्यात इतिहासकार फ्रीमेन महोदयने भी लिखा है, "राज्यकी आदर्श पद्धति वह है जिसमें बिलकुल शासन न करना पड़े। सरकारके अस्तित्वका कारण मनुष्यकी अपूर्णता है।" व्यक्तिवादियोंका कथन है कि राज्यका अस्तित्व केवल इसलिये है कि संसारमें अपराधका अस्तित्व है। इसलिये उसका कार्य्य केवल अपराधोंको रोककर शान्ति और व्यवस्था रखना है। अन्य कामोंमें हाथ डालना उसका कर्त्तव्य नहीं। जब राज्य रेलवे, तार, थियेटर, पुस्तकालय, अजायबघर, बाग बगीचे, स्कूल कालेज आदि कई काम अपने सिरपर ले लेता है तो समझना चाहिये कि वह केवल व्यक्तिकी ही रक्षा नहीं करता है (जिसके लिये कि उसका अस्तित्व है) पर वह उन कार्य्योंमें भी अनुचित रूपसे हाथ डालता है जो कि व्यक्तियोंको करनेके हैं। आजकल शिक्षा, सफाई, टीका, व्यापार और उद्योग धन्धेके जो अनेक काम राज्य अपने हाथोंमें रखता है उसे व्यक्तिवादी अच्छा नहीं समझते। साथ ही वे यह भी जोरसे प्रतिपादित करते हैं कि राज्यको व्यक्तियोंके सामाजिक जीवनमें हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है। व्यक्तिवादियोंका तो साफ़ साफ़ कहना है कि ज्यादा शासन मत

करो।" वे कहते हैं कि राज्यका कार्य्य केवल यही है कि वह शान्ति और व्यवस्था रखे, वादोंको पूरा करवावे, अपराधके लिये सज़ा दे और जब ये काम हो जावें तब समझ लेना चाहिये कि उसके काम हो चुके। इनके सिवा उसे और कोई काम करना नहीं है।

व्यक्तिवादकी उत्पत्ति और विकास

पाश्चात्य लेखकोंके मतानुसार व्यक्तिवादका उत्पत्तिकाल अठारहवीं सदीका उत्तरार्द्ध है। इस समय यूरोपमें सरकारका शासन बेहद बढ़ा हुआ था। व्यक्तिस्वातन्त्र्यका नामोनिशान नहीं था। इसीसे प्रतिक्रिया शुरू हुई। उसी समय फिजियोक्रेटके अनुयायी अर्थशास्त्रविदोंने यह प्रकट किया था कि राज्यके उद्योगधन्धोंके लिये किसी प्रकारकी शर्तें डालकर लोगोंके आर्थिक व्यापारमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उसका कार्य्य केवल उन प्रकृतिके नियमोंकी रक्षा करना होना चाहिये, जिनके अन्तर्गत देशकी पैदाइश बढ़े। फिजियोक्रेटके मतानुयायियोंने राज्यकी उच्च सत्तापर भी आक्रमण किया था। उन्होंने उद्योग और व्यापारके लिये, पूर्ण स्वाधीनताके लिये आवाज उठायी थी। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रवेत्ता एडम स्मिथने भी अपने विख्यात ग्रन्थ "Wealth of the Nations" में इस मतका बड़े जोरसे समर्थन करते हुए लिखा था कि राज्यको लोगोंके आर्थिक मामलोंमें हाथ डालनेकी आवश्यकता नहीं। इसके

बाद रिकार्डों, माल्थस नामक अंग्रेज ग्रन्थकारोंने, बास्टियेट, डे-टाँक्यूव्हेल (De. Tanqueville), डूनायर, लिआनसे, नामक फ्रेन्च लेखकोंने तथा कान्ट (Kant), फिच (Fichte), विलिहेम हमबोल्ट (Wilihelm Humboltdt) आदि जर्मन दार्शनिकोंने भी इसी बातका समर्थन किया था। इन महाशयोंके बाद भी लेबोले (Laboulaye), माईकेल, हर्बर्ट स्पेन्सर, जान स्टुअर्ट मिल, बुल स्मिथ, वर्ड्‌सवर्थ नामके कितने ही विख्यात महानुभाव इसका बड़े जोरसे समर्थन करते हैं।

सबसे पहले सन् १७६१ में विलिहेम हमबोल्टने एक ग्रन्थ लिखा था जिसमें उसने बड़े जोरसे यह प्रतिपादन किया था कि "सरकारको जहांतक बन सके कम शासन करना चाहिये। वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है। सरकारका सबसे पहला कर्त्तव्य यही है कि अपने राज्यके व्यक्तियोंके व्यक्तित्वका विकास करे।"

इंग्लैण्डके महान दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर महोदयने व्यक्तिवादका बड़े जोरसे समर्थन किया है। उसका कथन है कि राज्यका अस्तित्व मनुष्यके परस्परागत अहंभाव (Egoism) और बदमिजाजी (Perversity) का परिणाम है, अतएव राज्य वास्तवमें राज्यरक्षक होनेसे भी कहीं अधिक भक्षक है। आगे चलकर वह फिर कहते हैं, "चाहे यह बात सत्य हो या न हो कि मनुष्य अधर्मके ढांचेमें ढाला गया है, पर यह बात बिलकुल सत्य है कि राज्यकी उत्पत्ति आक्रमणसे हुई

है। राज्यकी स्थापना मनुष्यके दुष्प्रकृतिके कार्य्योंमें उचित रोक रखनेके लिये और एक मनुष्यको दूसरे मनुष्यके अत्याचारोंसे बचानेके लिये हुई है, अतएव जब समाज अपनी पूर्ण नैतिक अवस्थापर पहुंच जायगा तब उसे राज्यशासनकी कोई आवश्यकता ही न रहेगी।" स्पेन्सर महोदय कहते हैं, "सरकार तत्त्वतः दुराचारी (Immoral) है। उसका अस्तित्व इसीलिये है न कि अपराधका अस्तित्व है ? क्या अपराधके मिटते ही सरकारको न मिट जाना चाहिये ?......यह ख्याल करना गलत है कि सरकारका अस्तित्व हमेशाके लिये बना रहना चाहिये।"

आगे चलकर स्पेन्सरने यह दिखलाया है कि व्यापार और वाणिज्यके लिये सरकारको कानून बनानेका कोई अधिकार नहीं। साथ ही क्वारन्टाइन, रजिस्ट्रेशन कानून, अनिवार्य्य शिक्षा आदि काम भी स्पेन्सरके मतानुसार सरकारके नहीं हैं। ये काम लोगोंको अपने आप करनेके हैं। स्पेन्सरके मतानुसार राज्यको केवल वहीं हस्तक्षेप करनेका अधिकार है, जहां किसीके स्वत्वोंका अपहरण होता हो।

स्पेंसर महोदयकी तरह अन्य कितने ही विद्वानोंने व्यक्तिवादका समर्थन किया है। उनका कहना है कि राज्यको व्यक्तिकी स्वतंत्रतामें बाधा न देनी चाहिये। उसे इस प्रकार स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये कि वह अपने जीवन या अस्तित्वके उद्देशोंको अच्छी प्रकार समझ सके। जबतक क़िसी व्यक्तिकी स्वाधीनतासे दूसरोंकी स्वाधीनतामें बाधा न आवे तबतक राज्यको न्यायतः यह अधि-

कार नहीं है कि वह उस व्यक्तिकी स्वाधीनतामें बाधा उपस्थित करे। कांट, फिच, हम्बोल्ड, जान स्टुअर्ट मिल प्रभृति राजनीति-विशारदोंने बड़े जोरसे यह प्रतिपादन किया है कि व्यक्तिमें रही हुई सब शक्तियोंका एक साथ विकास करनेके लिये यह आवश्यक है कि उसकी स्वाधीनतामें यथासम्भव न्यूनसे न्यून बाधा डाली जावे; क्योंकि उसकी स्वाधीनतामें जितनी रोक रखी जायगी उतनी ही उसकी उन्नति और स्वावलम्बनकी शक्तियां कम और उसको जिम्मेदारी निर्बल होगी तथा उसकी शक्तियोंका ह्रास होकर उसका चरित्र खोटा होगा।" जान स्टुअर्ट मिलने भी कहा है कि राजशासनकी ज्यादती (Excess of Government) से व्यक्तिकी मानसिक शक्तिकी वृद्धिमें हानि पहुंचती है और इससे मनुष्यको अपनी निर्णयशक्तिके अनुसार कार्य्य करनेमें बाधा उपस्थित होती है। खुली प्रतिस्पर्धा व्यक्तिकी सर्वोत्तम शक्यताओं (Possibilities) का विकास करती है, उसकी उपज बुद्धिको बढ़ाती है और उसमें स्वावलम्बनके भाव दृढ़ करती है। इसी बातको सामने लाकर व्यक्तिवादी कहते हैं कि सर्वोत्तम सभ्यताका विकास व्यक्तिवादकी ही प्रधानतासे होता है। जिन लोगोंके कार्य्योंमें राज्यका हाथ रहता है या जो लोग बात बातमें राज्यकी सहायतापर निर्भर रहते हैं वे कभी तरक्की नहीं कर सकते।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिवादियोंका कहना है कि हमारा सिद्धान्त, शास्त्र (Science) के गहनतम तत्त्वोंपर निर्भर करता

है। वह विकासवादके तत्त्वसे मेल खाता है। यही एक सिद्धांत है जो संसारमें चलनेवाले आर्थिक कलहमें योग्यताकी जीत करवाता है। व्यक्तिवादका मत है कि स्वार्थ (Self-interest) मानवी प्रकृतिका सर्वव्यापी तत्त्व है। हर एक मनुष्य जितनी अच्छी तरह अपने लाभोंको समझता है उतनी अच्छी तरह कोई सरकार नहीं समझ सकती। व्यक्तिवाद डंकेकी चोट कहता है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने पैरोंपर खड़ा रहने देना चाहिये, फिर चाहे वह खड़ा रह सके या गिर पड़े। उसे अपना भाग्य बनानेमें राज्यको मदद देनेकी आवश्यकता नहीं। किसी व्यक्तिको निस्सहाय छोड़ देनेसे यह परीक्षा हो जायगी कि वह इस जीवनसंग्राममें जीवित रहनेके योग्य है या नहीं। अगर वह जीवित रहनेके योग्य होगा तो विजय पाकर अपना रास्ता आप निकाल लेगा, नहीं तो उसका अस्तित्व मिट जायगा। इस प्रकार संसारमें योग्य और समर्थ मनुष्योंका अस्तित्व रह जायगा, अयोग्य और असमर्थ अपने आप मिट जावेंगे। इससे समाजका बड़ा कल्याण होगा क्योंकि वह योग्य और समर्थ मनुष्योंका समुदायमात्र रह जायगा।

व्यक्तिवादके समर्थक यह प्रतिपादन करते हैं कि व्यक्तिवादकी नींव अत्यन्त गम्भीर आर्थिक तत्त्वोंपर लगी हुई है। कहा जाता है कि उद्योग धन्धे खानगी लोगोंके हाथमें होनेसे जितने अच्छे परिणाम निकलते हैं, उतने राज्यके हाथमें होनेसे नहीं निकलते; क्योंकि इसमें व्यक्तिका निजी स्वार्थ रहनेसे वह अपनी

सारी शक्तियों और योग्यताको इनकी तरक्कीमें लगा देता है। इनकी तरक्कीके नये नये मार्ग उसे सूझते हैं। इससे पैदाइश भी ज्यादा होती है और व्यक्तिकी शक्तियोंको आविष्करणका मार्ग मिलनेसे वे खूब फलती फूलती हैं।

अन्तमें व्यक्तिवादी राज्यकी सर्वज्ञताको (Omnicience) स्वीकार नहीं करते। वे यह नहीं मानते कि व्यक्तियोंकी आवश्यकताओंको जितनी अच्छी तरहसे खुद व्यक्ति समझ सकते हैं, उससे अधिक अच्छी तरह राज्य समझ सकता है। उनके मतानुसार राज्यमें व्यक्तियोंसे अधिक आविष्कारक बुद्धि नहीं है, क्योंकि राज्य भी तो व्यक्तियोंहीसे बना है।

व्यक्तिवादकी समालोचना।

अभीतक हमने वही बातें कही हैं जो व्यक्तिवादके हिमायती इसके समर्थनमें कहते हैं। अब उन लोगोंकी भी बातें सुन लीजिये, जो इसके विरोधी हैं। वे कई तत्त्वोंपर इसका विरोध करते हैं कि व्यक्तिवादियोंका यह कहना ठीक नहीं कि राज्य एक बुराई है। मनुष्यजातिके अबतकके अनुभवमें यह बात नहीं आयी है। इतिहास दिखला रहा है कि सभ्यताके विकासमें अच्छे राज्योंने बड़ी सहायता पहुंचायी है। अतएव राज्य, अगर वह अपना वास्तविक कर्त्तव्य पालता रहे तो निस्संदेह अच्छी वस्तु है। हां, कभी २ किसी राज्यकी स्वार्थलोलुपताके कारण सर्वसाधारणकी उन्नतिमें बाधा पहुंचती है, पर इससे राज्यसंस्थाको

बुरा कहकर उसका तिरस्कार करना ठीक वैसा ही है, जैसे रेलवे सड़कपर कभी कभी दुर्घटनाओंके हो जानेसे यह कह देना कि इन्हें बनाना ही बुरा है। स्पेन्सरका यह कहना कि अपराध-का अस्तित्व होनेहीके कारण राज्यका अस्तित्व है और नैतिक-दृष्टिसे परिपूर्ण मानवसमुदायके लिये राज्यकी आवश्यकता नहीं, ठीक नहीं। राज्यके उद्देश केवल अपराधोंकी रोक ही नहीं है, उसके उद्देश इनसे कई दर्जे ऊंचे हैं।

जबतक मनुष्य समुदायमें रहता है, तबतक उसके सामुदायिक अभाव (Collective wants) भीकिसी न किसी रूपमें रहते हैं। इनकी पूर्ति राज्यसङ्गठनके ही द्वारा हो सकती है। अतएव यह कहना कि कभी ऐसा समय आयगा कि राज्यकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी, ठीक नहीं। व्यक्तिवादके विरोधी कहते हैं कि आजकल जो चिह्न दिखलायी दे रहे हैं उनसे यह प्रकट होता है कि जैसे २ आधुनिक सभ्यताकी जटिलता (Complexity) बढ़ती जायगी, वैसे २ और भी अधिकाधिक राज्यकी आवश्यकता बढ़ती जायगी। उद्योग धन्धोंके बढ़ जानेसे, शहरोंमें अधिक घनी बस्ती हो जानेसे, सामुदायिक सम्पत्तिके बढ़ जानेसे तथा आर्थिक और सामाजिक स्थितिमें परिवर्तन होनेसे जो स्थिति उत्पन्न हो रही है वह व्यक्तिवादके अनुकूल नहीं। इससे इन वर्षोंमें इसके विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया (Reaction) शुरू हो रही है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक हक्सले महोदयका कथन है कि—"सभ्यताकी स्थिति जितनी ही ऊंची

पहुंची हुई होगी उतनी ही अधिक समाजके व्यक्तियोंकी एक दूसरेपर निर्भरता रहेगी। एक व्यक्तिके कार्य्योंका प्रभाव किसी न किसी अंश और रूपमें दूसरेपर पड़े बिना न रहेगा। ऐसी दशामें यह असम्भव हो जाता है कि कोई व्यक्ति किसीकी स्वतन्त्रतामें कम ज्यादा बाधा पहुंचाये बिना कोई बुरा काम नहीं कर सकता। ऐसी हालतमें क्या यह बात नहीं कही जा सकती कि व्यक्तिवादियोंका कहना अधिकांशमें ठीक नहीं और किसी न किसी अंश या रूपमें राज्यकी आवश्यकता है।" ले नामक राजनीतिक विद्वानने भी ठीक ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उसका कथन है "जैसे २ सभ्यताको प्रगति होती जाती है, वैसे २ व्यक्ति एक दूसरेपर या समष्टिरूपसे यों कहिये कि समाजपर अधिकाधिक निर्भर होते जाते हैं। अतएव सभ्यताकी प्रगतिके परिमाणसे राज्यका कार्य्यक्षेत्र भी बढ़ते रहना चाहिये। स्पेन्सर-का व्यक्तिवाद आधुनिक समाजकी स्थितिमें उपयुक्त नहीं।

व्यक्तिवादियोंका यह कहना कि सर्वसाधारणकी भलाईके कामोंमें राज्यका हाथ अच्छा नहीं, इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रतामें बाधा पहुंचती है, बहुत ही अल्पांशोंमें सत्य है। व्यक्तिवादके समालोचकोंका मत है कि हर एक मनुष्यके कार्य्योंपर योग्य रोक (Restrictions) रखनेसे सब लोगोंके स्वत्व बढ़ते और व्यापक होते हैं, जैसे वृक्षोंमें कलम बाँधनेसे थोड़ेसे फलोंका नुकसान होता है पर अन्तमें अच्छे और बहुत फल उत्पन्न होते हैं; याने इससे आखिर लाभ ही होता है। इसका यहां खुलासा

करना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्तिके कार्य्यमें उचित रोक रखनेसे सर्वसाधारणकी स्वतन्त्रता घटनेके बदले बढ़ती है। मान लीजिये कि सब व्यक्तियोंको पूर्ण स्वतंत्रता दे दी, उन्हें पूरे तौरसे स्वच्छन्द कर दिये। इसका परिणाम यह होगा कि कितने ही दुष्ट व्यक्ति दूसरोंके स्वत्वोंपर—उनके जानमालपर हमला करेंगे। समाजमें बड़ी अव्यवस्था हो जायगी और समष्टि-रूपसे सब व्यक्तियोंकी स्वतंत्रतामें बेहद बाधा पहुंचेगी। अतएव व्यक्तिके कार्य्यमें बुद्धिमत्तापूर्वक किसी न किसी अंशमें ऐसी रोक अवश्य होनी चाहिये, जिससे वह दूसरेके स्वत्वोंपर या जानमालपर अन्यायपूर्वक आक्रमण न कर सके।

व्यक्तिवादियोंकी यह कल्पना भी निर्बल आधार रखती है कि राज्य स्वाधीनताका विरोधी है, राज्य और स्वाधीनता परस्पर विरोधसूचक शब्द हैं। राज्यका कार्य्यक्षेत्र जैसे जैसे बढ़ता जाता है, वैसे वैसे वैयक्तिक स्वतंत्रता कम होती जाती है; अर्थात् दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि शासनकी अधिकतासे वैयक्तिक स्वाधीनताकी कमी होती जाती है। वास्तविक बात तो यह है कि सुसङ्गठित और उदार राज्यके कार्य्योंसे व्यक्तियोंकी न केवल नैतिक, शारीरिक और बौद्धिक योग्यता ही बढ़ती है, पर साथ ही सबल और स्वार्थी मनुष्योंके द्वारा उनके मार्गमें रखी जानेवाली बाधायें हट जानेसे उनकी स्वाधीनताका मार्ग भी खुला होता है और वे उस हमेशाके झगड़ेसे बचते हैं जो उन्हें राज्य न होनेकी हालतमें उन लोगोंसे करने

पड़ते हैं जो अपने स्वार्थके लिये दूसरोंपर अकारण ही आक्रमण करते हैं।

व्यक्तिवादके विरोधी व्यक्तिवादियोंके इस कथनका खण्डन करते हैं कि सरकारी नियम और कानून व्यक्तिके चरित्रबल (Character) को निर्बल करते हैं। इनका (व्यक्तिवादके विरोधियोंका) कहना है कि यह बात ठीक नहीं। चरित्रबल (Character) का विकास केवल स्वाधीनताहीसे नहीं होता, उसके साथ साथ उचित संयमकी भी आवश्यकता है। व्यक्तिवादके विरोधियोंके मतानुसार यह बात भी ठीक नहीं कि सरकारका कार्य्यक्षेत्र बढ़नेसे वैयक्तिक स्वाधीनता कम होती है और मनुष्य निर्बल एवं परावलंबी बनता है। परिपूर्ण रीतिसे विकास पाया हुआ मनुष्य वही है, जो सामाजिक है। समाजसे बिलकुल अलग रहनेवाला या यों कहिये कि प्राकृतिक मनुष्य सभ्य नहीं कहलाता। आजकल यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि व्यक्ति अपने चरित्रके विकासके लिये समाजका बहुत कुछ ऋणी है।

व्यक्तिवादमें यह एक भारी दोष है कि वह राज्यनियमों (State regulations) की बुराइयोंको बहुत बढ़ाकर तथा उसके लाभोंको घटाकर बतलाता है, वह स्वाधीनताकी वास्तविक प्रकृति और सीमाको समझनेमें गलती करता है। समाजके साथ व्यक्तिका जो सम्बन्ध है, उसके जाननेमें वह भूल करता है। वह समाजसे अधिक व्यक्तिको महत्व देता है। वह प्रायः यह मानकर चलता है कि समाजसे मानों व्यक्तिका सम्बन्ध नहीं

है, और वह समाजसे जुदा किया जा सकता है। उनकी बातों-से यह धारणा हुए बिना नहीं रहती कि व्यक्तिके हिताहित समाजके हिताहितसे भिन्न हैं। हम भी मानते हैं कि व्यक्ति केवल समाजका अंग (fraction) नहीं है। वह समाजका जीवन है। जिस प्रकार बिना व्यक्तियोंके, समाजका अस्तित्व नहीं, वैसे ही बिना समाजके मनुष्य मनुष्य नहीं, पर वह एक जंगली जानवर है।

व्यक्तिवादी सरकारके कई दोषोंको, उनके द्वारा की गयी अनेक भूलोंको दिखलाकर सरकारपर अविश्वास प्रकट करते हैं। पर यह बात ठीक नहीं। यह समझना गलत है कि अमुक अमुक सरकारने भूतकालमें अमुक २ भूलें कीं या उसके अधिकारियोंने शक्तिका दुरुपयोग किया, इसलिये सरकारका अस्तित्व ही ठीक नहीं, भविष्यमें उनपर विश्वास करना अनुचित है। यह बात कहना तो ठीक वैसे ही है, जैसे यह कहना कि म्युनिसिपेलिटीके द्वारा बनायी हुई गटरोंसे अगर कभी मोतीजराको बीमारी फैल जावे तो यह कह देना कि गटर बनानेकी रीति ही खराब है। सरकारोंने भूतकालमें जो भूलें की हैं, या वर्त्तमानमें वे जो भूलें कर रही हैं, उन्हें व्यक्तिवादी बहुत बढ़ाकर दिखलाते हैं, वे उन सबोंको इकट्ठाकर उनकी प्रदर्शनी करनेका प्रयत्न करते हैं। हक्सले महोदयका कथन है,—"राज्य कांचके बने हुए महलमें रहता है। वह क्या करता है सो हम सब देखते हैं। उसकी सब असफलतायें

सम्पूर्ण या असम्पूर्ण रूपसे दृष्टिगोचर हो जाती हैं और वे बहुत बढ़ाकर सामने लायी जाती हैं। इसके विपरीत खानगी लोगों-के काम ईंट और चूनेकी दीवारोंके अन्दर आश्रय पाते हैं। सर्व-साधारण शायद ही जान पाते हैं कि अमुक अमुक व्यक्ति क्या कर रहे हैं। हां, उनकी वे भूलें अलबत्ता प्रकट हो जाती हैं जो बड़ी गम्भीर होती हैं।" लार्ड पेमब्रोकका कहना है कि जिस प्रकार राज्यकी भूलें इकट्ठी कर दिखलाई जाती हैं, वैसे ही व्यक्तियोंकी दिखलायी जावें तो वे अधिक होंगी।

व्यक्तिवादी कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जितनी अच्छी तरह अपना हिताहित समझ सकता है, उतनी अच्छी तरह राज्य नहीं समझ सकता। स्वतः व्यक्तिही अपने हितका सबसे अच्छा निर्णयकर्त्ता (Judge) हो सकता है। अगर व्यक्ति खुद अपने आपपर छोड़ दिया जावे तो वह अपने हितकी पूर्ति अच्छी तरह कर सकेगा। यह बात यद्यपि कुछ अंशोंमें सत्य है पर सर्वांशमें सत्य नहीं। मिल, सिजविक जैसे व्यक्तिवादियों ने भी यह स्वीकार किया है कि वैज्ञानिक आविष्कारोंकी वृद्धिके कारण जैसे जैसे जीवनके सरंजाम अधिकाधिक जटिल और दुष्कर होते जाते हैं, वैसे वैसे श्रमविभागकी दृष्टिसे भी आदमीको अपने जीवनोद्देशके साधन जाननेके अवसर कम होते जाते हैं, वैसे वैसे प्राकृतिक विकासके मार्ग रुकते जाते हैं और शक्तियोंका ह्रास होता जाता है। एक बेल्जियम लेखकका कथन है कि अगर प्रत्येक व्यक्ति अपना हिताहित,

स्वत्व और कर्त्तव्य भली प्रकार निर्णय कर सके और वही काम करे जो वस्तुतः उसे करना चाहिये तो फिर राज्यके हस्तक्षेप-की आवश्यकता ही उठ जायगी और हम पूर्ण स्वाधीनताके राज्यमें रहने लगेंगे। यद्यपि यह बात कई अंशोंमें ठीक है, पर क्या यह सम्भव हो सकती है? क्या अज्ञानी लोग उन भूलों और भयका प्रतिकार स्वतः कर सकते हैं, जिनसे वे अज्ञान हैं? अज्ञानताके कारण कहिये या और अन्य किसी कारणसे कहिये, कितने ही लोग अपने हिताहितको अच्छी तरह नहीं समझते, अतएव राज्यको उनके हितोंकी रक्षा करनी पड़ती है। बच्चेको टीका न लगानेसे उसके जानकी जोखिम है, इस बातको कितने ही मातापिता नहीं जानते या जानते हुए भी वे अपने बच्चेको टीका लगाना पसन्द नहीं करते। ऐसी दशामें उन बच्चोंके हितके लिये या यों कहिये कि समाजके हितके लिये सरकारको अनिवार्य्य टीका लगानेका नियम बनाना पड़ता है। कितने ही मातापिता शिक्षाके महत्वको नहीं समझते, वे अपने बच्चोंको पढ़ाना पसन्द नहीं करते तो क्या ऐसी दशामें यह कहा जा सकता है कि ये लोग अपने हितको अच्छी तरह समझते हैं? क्या ऐसी दशामें राज्यका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह उनके उन हितोंको समझकर, जिन्हें वे अज्ञानताके तथा अन्य किसी कारणसे नहीं समझते हैं, अनिवार्य्य शिक्षाका नियम जारी कर दे? इसमें क्या बुराई है? इसमें कौनसी स्वाधीनताका नाश होता है? शराब पीना बुरा है, इससे व्यक्तिकी शारी-

रिक और मानसिक शक्तियोंका ह्रास होता है, इसके भयङ्कर परिणाम सारे राष्ट्रपर पड़ते हैं। पर तोभी कितने ही लोग अज्ञानताके कारण कहिये या आदतके गुलाम होनेके कारण कहिये खूब शराव उड़ाते हैं। कितने ही अपना कमाया हुआ धन इसमें बरबाद कर देते हैं। ऐसी दशामें व्यक्तियों और राष्ट्रके हितके लिये राज्य शराब रोकनेका कोई कानून बनावे तो इसमें क्या बुराई है? और इसमें वह व्यक्तिकी स्वाधीनतामें कौनसी अन्याय पूर्ण बाधा डालता है? मतलब यह है कि ऐसी कितनी ही बातें हैं' जिनमें व्यक्ति अपना हिताहित या तो अज्ञानताके कारण नहीं समझता है या समझता भी है तो अपने ऐहिक सुख और विषय-लोलुपतामें उसे भुला देता है। ऐसी दशामें राज्य उसके हिताहितके कार्योंमें उचित निगाह रखे तो इसमें क्या अनुचित है?

साम्यवाद।

साम्यवाद उस सिद्धान्तका नाम है जो वर्त्तमान राजनीतिक और औद्योगिक वस्तु-स्थितिमें आवश्यक परिवर्त्तन द्वारा आर्थिक असमानताको दूर करना चाहता है। देखते हैं, कि इस संसारमें एक ओर तो लक्षपति और करोड़पति अनुपमेय विलासिताका जीवन व्यतीत करते हैं, और दूसरी ओर हजारों गरीब घोर दरिद्रता और अन्धकारमें अपने दुःखमय जीवनको बिता रहे हैं। एक ओर तो लोग रबरटायर गाड़ियोंमें और मोटरोंमें बैठे आनन्दसे सुबह और शाम हवा खाने जाते हैं और दूसरी

ओर करोड़ों अभागे पेटज्वालासे जलते हुए जेठकी कड़ी धूपमें नंगे सिर और नंगे पैर डोलते फिरते हैं। एक ओर तो कुछ लोग तरह तरहके पकवान उड़ाते हैं और दूसरी ओर लाखों करोड़ों लोग भूखके मारे तड़प तड़पकर प्राण देनेमें बाध्य होते हैं। एक ओर तो कुछ लोग खसकी टट्टियोंके भीतर पड़े पड़े आराम-से खर्राटे लेते हैं और दूसरी ओर बेचारे लाखों करोड़ों मनुष्यों-को बैसाखकी जलती हुई लूमें खेतों और खलियानोंमें काम करना पड़ता है। एक ओर तो कुछ धनिक अफसर, या राजा और महाराजा नाच मुजरों, विवाह शादियों, उत्सवों और दाव-तोंमें पानीकी तरह रुपया नष्ट करते हैं दूसरी ओर लाखों करोड़ों मनुष्योंको अपनी या अपने बाल बच्चोंकी शिक्षा, अपनी शक्तियोंके विकास और अपनी कार्यक्षमता बढ़ानेके लिये भी साधन प्राप्त नहीं होते। अपनी गरीबीके कारण वे अपनी शारी-रिक, मानसिक और नैतिक उन्नति नहीं कर सकते। धनहीनता उनकी वृद्धिमें रुकावट डालती है। उनकी शक्तियां अविकसित रह जाती हैं और वे इस संसारसे अकालहीमें कूच कर जाते हैं। अकाल और महामारियां सदा उनके लिये मुंह बाये खड़ी रहती हैं। उनकी मृत्युसंख्या धनिकोंसे तिगुनी होती है। उन्हें पापी पेटकी ज्वाला शान्त करनेके लिये नाना प्रकारके अपराध और पाप करनेको, आत्माका हनन और दण्ड भोगनेको विवश होना पड़ता है। दिन रात कठोर परिश्रम करनेपर भी गरीबों-को नारकीय यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती हैं और अमीर बिना हाथ

पैर हिलाये ही स्वर्गीय सुखोंका भोग करते हैं। यह सब किस लिये? इसलिये नहीं कि वे मनुष्य नहीं, उनके हाथ पाँव या बुद्धि नहीं, पर केवल इसलिये कि एक धनी है और दूसरा निर्धन। साम्यवादी ऐसी दुरवस्था उत्पन्न करनेवाली राजनीतिक और औद्योगिक परिस्थितियों, सामाजिक बन्धनों और अड़चनोंमें सुधार करना चाहते हैं। प्रोफेसर एली महोदयका कथन है कि साम्यवादी वे हैं जो समाजका इस तरह संगठन करना चाहते हैं जिसमें वर्त्तमान आर्थिक असमानता दूर हो जावे और मनुष्य-समाजका सामुदायिक रूपसे आर्थिक विकास हो। सारांश यह है कि साम्यवादी वे हैं जो उस समाज-सङ्गठनको और राज्यप्रणालीको चाहते हैं जिसमें कि उद्योग धन्धोंका स्वामित्व व्यक्ति या व्यक्तियोंके हाथमें न रहकर सारी जनता या जनतासे बनी हुई सरकारके हाथमें रहे।

जहां व्यक्तिवादी राज्यके कार्यक्षेत्रको केवल शान्तिरक्षातक ही परिमित रखना चाहते हैं, वहां साम्यवादी राज्यके कार्य-क्षेत्रको हर बातमें विस्तृत करना चाहते हैं। उनका मत है कि राज्यका कार्य केवल शान्तिरक्षा या शासनप्रबन्ध करना ही नहीं है पर लोगोंकी आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करना भी है। कितने ही साम्यवादियोंके मतानुसार राज्यका यह कर्त्तव्य है कि वह प्रजाके मनुष्योंको योग्य कार्य मिलनेकी ग्यारंटी दे, आवश्यकता पड़नेपर उन्हें बिना ब्याजके रुपये दे, उनके लिये आरोग्यशाली घर बनावे, उनके लिये

व्यसाय करे तथा उनके आराम और सुभीतेके लिये हर प्रकार-का प्रबन्ध करे। अमेरिकाके संयुक्तप्रदेशके कई साम्यवादियोंने अपने राष्ट्रीय प्लेटफार्मपर यह कहा था कि सब प्रकारके माल उत्पन्न करनेके यन्त्र, खानें, रेलवे, तार, टेलीफोन, गैसवर्क्स, नहरें आदि सबपर राष्ट्रीय सरकारका अधिकार रहे। ये सब सर्वसाधारणकी जायदाद समझी जावें। इनके नफे नुकसानमें सर्वसाधारण हिस्सेदार हों। किसी आविष्कारके लाभपर किसी व्यक्ति-विशेषका अधिकार न रहकर सर्वसाधारणका रहे। राष्ट्रीय सरकार गरीब लड़कोंके लिये अन्न, वस्त्र और पुस्तकों-का प्रबन्ध करे तथा शिक्षाका मुफ्त और अनिवार्य प्रचार करे। बेरोजगारियों और निठल्लोंके लिये योग्य मजदूरी या कामका प्रबन्ध करे।

साम्यवादके पक्षमें जो दलीलें दी जाती हैं उनमें मुख्य ये हैं कि आजकलके आर्थिक संगठनमें मजदूरोंको-गरीबोंको—अपने परिश्रमका योग्य फल नहीं मिलता, इनके परिश्रमका अधिकांश भाग पूंजीवाले हड़प कर जाते हैं। इन बेचारोंको बहुत कम मिलता है। पूंजीवाले दलाल या कारखानोंपर देखरेख करने-वाले मनुष्योंकी जेबें तो खूब भर जाती हैं और दिन रात कड़ा परिश्रम करनेपर भी बेचारे ये दरिद्रोंके दरिद्री ही बने रहते हैं। मतलब यह है कि साम्यवादियोंके मतानुसार आजकलका आर्थिक संगठन धनवान या पूंजीवालोंके लिये ही लाभकारक है। इसमें अर्थके बटवारेकी बड़ी असमानता है। इसमें ऊंचे

उठनेके जितने अवसर धनवानोंको हैं, उनके शतांश भी सम्पत्ति-के असली उत्पादक मजदूरोंको नहीं हैं। इस आधुनिक आर्थिक सङ्गठनमें धनवानोंके पास मजदूरोंको लूटनेके अनेक साधन हैं। जब लाखों मजदूरोंके गलेपर छुरी चलती है तब एक आदमी करोड़पति होता है। इन सब स्थितियोंको देखकर साम्यवादी कहते हैं कि संसारके सबसे अधिक मनुष्योंके सबसे अधिक हित और कल्याणके लिये(Greatest good of the greatest number)यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय राज्य जमीन और पूंजी-पर तथा पैदाइश (Production) के साधनोंपर अधिकार कर ले। इससे आज लाखों करोड़ों जनताका जो लाभ मुट्ठी-भर पूंजीवाले खा जाते हैं वह सारी जनताको मिलता रहेगा और समाजमें आज जो भयङ्कर विषमता दिखाई देती है वह नहीं रहेगी।

आजकल व्यक्तिवादके भावोंके कारण इतनी भयङ्कर प्रति-स्पर्धा चल रही है कि जो लोग औद्योगिक या साम्पत्तिक दृष्टि-से निर्बल हैं उनकी कहीं दाद नहीं लगती। उनके लिये सफ-लताके बहुत कम साधन हैं। वे कितने ही योग्य होनेपर भी धनवानोंके मुकाबलेमें खड़े नहीं हो सकते। इस स्थितिमें गरीब तो अधिक गरीब होते जाते हैं और धनवान अधिकाधिक धनवान होते जाते हैं। अर्थात् दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि आधुनिक आर्थिक सङ्गठन भरेको अधिक भरता है और खालीको और भी खाली करता है। साम्यवादियोंका कहना

हैं कि इन्हीं सब खराबियोंसे साम्यवादकी उत्पत्ति हुई है और न्याय तथा सत्यपर इसकी नींव पड़ी हुई है। उनका कथन है कि भूमि, खनिज धातु आदिपर सबका एकसा अधिकार होना चाहिये। ये सब ईश्वर-प्रदत्त हैं, जो सारी मनुष्य-जातिको दी गयी हैं। जिस प्रकार वायु, सूर्यप्रकाश और जलपर सबका एकसा अधिकार है वैसे ही इनपर भी होना चाहिये।

आधुनिक आर्थिक सङ्गठनमें जिस प्रकारकी प्रतिस्पर्धा चल रही है उसमें निर्बलोंका तो पूरी तरह घात होता है। इस अनियमित प्रतिस्पर्धासे एक ओर वेतनकी कमी होती जाती है और दूसरी ओर बेरोजगारियोंकी संख्या बढ़ती जाती है। इस स्थितिसे समाजकी सामुदायिक रूपसे जो हानि होती है, वह अवर्णनीय है। अगर यह स्थिति ज्यों की त्यों चलती रही तो संसारकी सभ्यताको नाशकारी धक्का पहुँचेगा। संसारकी इस आनेवाली भयंकर स्थितिसे रक्षा करनेके लिये साम्यवादी संसारमें रही हुई भयंकर आर्थिक विषमताको मिटाना ही एक-मात्र रामबाण उपाय समझते हैं। वे कहते हैं कि इसके लिये प्रति-स्पर्धाका अन्त कर उसके स्थानपर सहकारी तत्त्व (Cooperative principle) को स्थान देना चाहिये। इस सहकारी तत्त्व-से लोगोंको अपनी उन्नतिके लिये समान अवसर मिलेंगे। इससे वैयक्तिक चरित्र और बलका अपूर्व विकास और सच्ची स्वाधीनताका आविष्करण होगा। आजकलकी औद्योगिक प्रतिस्पर्धा जड़वाद (Materialism) और अप्रमाणिकताको जन्म देती

है। इससे वैयक्तिक चरित्र (Individual character) की इयत्ता (Standard) गिरती है। मानवीय स्वभाव निसर्गतः ही निर्बल है, भ्रष्टताकी ओर वह सहजतया प्रवृत्त हो जाता है और आधुनिक आर्थिक विषमता उसे और भी अधिक भ्रष्ट करती है। अतएव राज्यका आद्य कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यकी इन भयंकर बुराइयोंसे रक्षा करे और उसे योग्य मार्ग दिखलावे।

साम्यवादका सिद्धान्त राज्यके सावयव सिद्धान्तसे बहुत कुछ मेल खाता है। जिस प्रकार सावयव सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि समाज एक शरीर (Organism) है, जिसमें प्रत्येक अवयवको सारे शरीरके लिये काम करना पड़ता है, वैसे ही साम्यवादके मतानुसार व्यक्तिको अपने वैयक्तिक लाभकी उपेक्षाकर सारे समाजके लिये काम करना चाहिये, अर्थात् साम्यवाद सबसे अधिक मनुष्योंके सबसे अधिक हितकी घोषणा करता है।

साम्यवादी कहते हैं कि राज्यने कई क्षेत्रोंमें प्रतिस्पर्धाका नाशकर उसके स्थानमें सरकारी तत्वकी स्थापना कर दी है। सरकार पोस्टका इन्तजाम करती है, सिक्के ढालती है और भी कई प्रकारके काम करती है। इसमें उसे सफलता भी हुई है। इसी प्रकार सरकार सब औद्योगिक काम अपने हाथमें लेकर संगठित क्यों नहीं करती? क्यों नहीं वह ऐसा प्रबन्ध करती जिससे संसारके उद्योग धन्धोंकी नींव न्याय और सत्यपर पड़कर प्रत्येक मनुष्यको अपने परिश्रमका योग्य फल मिले। सामु-

दायिक स्वामित्व और व्यवस्था पूर्णरूपसे प्रजातन्त्रके सिद्धान्तों-पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि इसका पाया नैतिक और परोपकारी तत्त्वोंपर जमा हुआ है। इससे समाजमें न्यायतत्त्वका विकास होकर वैयक्तिक और सामाजिक अभिवृद्धिको बड़ी सहायता मिलेगी।

साम्यवादकी समालोचना।

अबतक वेही बातें कही गयी हैं, जो साम्यवादके पक्षकी हैं। अब उन बातोंको भी सुन लीजिये जो इसके विरुद्ध कही जाती हैं। जो लोग साम्यवादके विरोधी हैं उनका कहना है कि साम्यवाद मानवी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। वह अव्यवहार्य और अधिकांशमें असम्भव है। अगर यह भी मान लिया जावे कि भूमि, कारखाने, उद्योगधन्धे आदिके वैयक्तिक स्वामित्वकी जगह समाज या राष्ट्रीय राज्यका स्वामित्व स्थापित किया जाना सम्भव भी हो जावे तोभी इससे लाभके बदले हानि अधिक है। इससे मानवीय परिश्रम, मानवीय बुद्धि और मानवीय प्रतिभाका विकास करनेवाले साधनोंका नाश हो जायगा। मनुष्य किसी न किसी स्वार्थको लिये हुए कार्य करता है। जैसे जैसे उसे अपने कार्यमें अधिकाधिक सफलता होती जाती है वैसे वैसे वह अधिकाधिक उत्साहसे काम करता है। इससे उसकी बुद्धि, प्रतिभा, कार्यकर और प्रवर्तक शक्तिको अपूर्व उत्तेजना मिलती है। अगर मनुष्यको अपने किये हुए परिश्रमका, अपनी बुद्धि और प्रतिभाके उपयोगका फल न मिलेगा, तो वह पूर्ण

परिश्रम क्यों करने लगेगा? क्यों वह अपनी विवेकशक्तिको नष्ट करेगा। मानवीय प्रकृतिमें यह बात नहीं है कि वह जबरदस्ती दूसरोंके लिये काम करना पसन्द करे। इससे मनुष्य-की कार्यकारी शक्तिको धक्का पहुंचता है, उसकी प्रवर्त्तक शक्ति (Incentive power) का ह्रास होता है।

दूसरी बात यह है कि संसारमें कभी पूर्ण समानता स्थापित नहीं हो सकती। यह बात प्रकृतिके नियमके खिलाफ़ है। दो वृक्षोंके फल समान रूपसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते। दो पशु या दो मनुष्य बुद्धि, प्रतिभा या योग्यतामें समान नहीं हो सकते। थोड़ी बहुत विषमता रहती ही है। उग्र साम्यवाद प्रकृतिके नियमके खिलाफ है। निरक्षर और विद्वान, मूर्ख और बुद्धि-मान, अल्पमति और प्रतिभावान, आलसी और परिश्रमी मनुष्य-की बराबरी कैसे हो सकती है? अगर इस प्रकारकी बराबरी करनेका प्रयत्न किया जायगा तो बड़ा अन्याय होगा। इससे मनुष्यकी उन शक्तियोंको धक्का पहुंचेगा जो संसारकी सभ्य-ताका जीवन हैं। दूसरी बात यह है कि जबतक मनुष्यकी प्रकृति वैसी ही बनी रहेगी, जैसी कि वह इस वक्त है तबतक साम्यवादको पूर्ण सफलता होना कठिन है। इन्हीं सब बातोंका ख्यालकर कुछ साम्यवादियोंने अन्य सिद्धान्तवादियोंके साथ समझौता कर ये बातें निश्चित की हैं :—

१—प्रत्येक मनुष्यको अपनी आवश्यकतानुसार द्रव्य मिलना चाहिये।

२—प्रत्येक मनुष्यको अपने परिश्रमके अनुसार द्रव्य मिलना चाहिये।

३—प्रत्येक मनुष्यको अपनी योग्यताके अनुसार द्रव्य मिलना चाहिये।

इन लोगोंका कहना है कि जब मनुष्यकी आवश्यकता, परिश्रम और योग्यता तीनों बातोंका ख्यालकर द्रव्यका बटवारा होगा तब वे सब कठिनाइयां दूर हो जायंगी जो अभी सामने लायी जा रही हैं। पर इसपर भी यह दलील की जा रही है कि मनुष्यकी आवश्यकता, परिश्रम और योग्यता किस पैमानेसे मापी जायगी। इस प्रकारकी कितनी दलीलें की जाती हैं जो साम्यवादके विरुद्ध कही जाती हैं। साम्यवादके कई भेद हैं। उनमेंसे कुछपर हम अगले अध्यायमें विचार करेंगे।

अराजकवाद।

अराजकवाद शब्द ही अपने उद्देश्यको स्पष्ट कर देता है। इसका सिद्धान्त है कि समाजपर किसी प्रकारका भीतरी या बाहरी नियन्त्रण न होना चाहिये। यह सिद्धान्त नवीन नहीं, जबसे मनुष्यके मनमन्दिरमें स्वाधीनता देवीका आह्वान होने लगा है, जबसे मानवहृदय स्वाधीनताकी-झंकारसे गूंजने लगे हैं, तभीसे इसका अस्तित्व प्रकट हुआ है और इसी कारण संसारका कोई भी देश इसकी कल्पनासे वंचित नहीं। इस सिद्धान्तके प्रसिद्ध प्रवर्तक प्रोढनका कथन है कि एक व्यक्तिका दूसरे

व्यक्तिपर शासन करना घोर अन्याय है। आगे यही फिर कहता है कि "समाजकी वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है जब अराजकता और सुव्यवस्था परस्पर एकत्रित हो जाय।"

राजकीय दृष्टिसे यह अराजकवाद अति प्राचीन है। परन्तु इसके आधुनिक स्वरूपमें राजकीय सिद्धान्तोंके साथ साथ कुछ साम्पत्तिक सिद्धान्तोंका भी समावेश हो गया है। इसके साम्पत्तिक सिद्धान्तोंके अनुसार समाजकी भावी व्यवस्थामें जमीन एवं उद्योग धन्धोंके साधनोंका स्वामित्व वैयक्तिक न रहकर सामुदायिक रहना चाहिये। इसी कारण अराजकवादको साम्यवादका एक अङ्ग भी कह सकते हैं।

प्राचीन साम्यवादियोंने अपने ग्रन्थोंमें इसका विवेचन किया है अवश्य, पर स्वतन्त्ररूपसे इस सिद्धान्तकी घोषणा एवं प्रचार करनेवाला बाकुनिन नामक एक रूसी नेता था। उसके सिद्धान्त साम्यवादी सिद्धान्तके पुरोगामी स्वरूप कहे जा सकते हैं। बाकुनिनके विचारोंके अन्तर्गत आदिसाध्य और अन्तिम साध्यमें कोई अन्तर नहीं, अतः इसके बहुतसे विचार अव्यवहार्य समझकर छोड़ दिये गये हैं।

अराजकवादपर कुछ कहनेके पूर्व उसके संस्थापकके जीवनसम्बन्धी कुछ घटनाओंका उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि उसके विचारोंके साथ उसके जीवनका विलक्षण साम्य है। इसका सारा जीवन सामयिक शासनसे युद्ध करनेमें ही व्यतीत हुआ। रूस जैसी एकतन्त्री और अनियन्त्रित भूमिपर सारी

शासनसत्ताके विरोध करनेवाले किसी महापुरुषका जन्म होना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं। यह तो प्रकृतिका नियम ही है कि जहांपर जितना ही भयानक रोग होगा, औषधि भी वहां उतनी ही चमत्कारिक होगी।

बाकुनिनका जन्म १८१४में रूसके एक उच्च कुलके अन्तर्गत हुआ था। शिक्षा समाप्त होनेपर उसने तोपखानेके एक अफसरकी हैसियतसे सैनिक विभागमें प्रवेश किया था। उन दिनों यह पद बहुत श्रेष्ठ समझा जाता था और कुछ खास खास आदमियोंको छोड़कर बाकीको मिलना असम्भव था। नियुक्त होते ही वह पोलैंड भेजा गया। उस समय पोलैंडकी प्रजापर रूसी सरकारके राक्षसी अत्याचार होते देख उसके हृदयपर गहरी चोट पहुंची और उसने किसी भी तरह ऐसी अत्याचारी सरकारसे सहयोग रखना उचित न समझकर तुरत अपने पदसे इस्तीफा दे दिया। इसके पश्चात् कुछ समयतक वह भिन्न भिन्न विषयोंके अध्ययनमें संलग्न रहा। सन् १८४७ में वह पेरिस गया, जहांपर कि प्रोढ़नसे उसकी मित्रता हो गयी और उसने उसीसे सामाजिक अराजक पंथके सिद्धान्तोंकी दीक्षा ली।

सन् १८४८ में जब सारा यूरोप क्रान्तिकी भारी लहरसे कांप उठा था, बाकुनिनको अपने विचारोंके अनुसार कार्य करनेका अच्छा अवसर मिला। वह तन, मनसे उस क्रान्तिमें सम्मिलित हो गया। सेक्सनीके ड्रेस्डेन नामक नगरमें जो उपद्रव हुआ था, उसमें उसका पूरा हाथ था। प्रारम्भमें उपद्रवकारियोंकी विजय

हुई और कुछ समयतक वे उसपर स्वतन्त्र प्रजातन्त्र स्थापित-कर शासन करते रहे। पर कुछ ही समय पश्चात् प्रशियन सर-कारकी सेनाने उस नगरपर चढ़ाई की। यद्यपि बाकुनिनके प्रोत्साहित करनेपर बलवाइयोंने उस फौजका सामना किया पर अन्तमें वे पराजित हुए। बाकुनिन शत्रुके हाथ गिरफ्तार हुआ और आठ वर्षतक कठिन कारावासमें कष्ट उठाता रहा। सन् १८५० में प्रशियन सरकारने उसे फांसीकी सज़ा दी, लेकिन उसी समय आस्ट्रियाकी सरकारने उसे मांग लिया और पांच महीने पश्चात् वह आस्ट्रियाके सुपुर्द कर दिया गया। आस्ट्रियन सरकारने भी पहले तो उसे फांसीका हुक्म दिया, पर बादमें उस आज्ञाको बदलकर आजीवन कारावासका दण्ड दिया। आस्ट्रियाके कारावासमें उसे घोर यन्त्रणाएं सहनी पड़ीं। उसके हाथ पैर भारी जंजीरोंसे जकड़ दिये गये थे। गलेमें भी एक वजनदार जंजीर डाली गयी थी, जिससे वह कई बार खम्भोंसे बांधा गया। कुछ महीनोंके पश्चात् रूसी सरकारने उसे मांग लिया, जिससे वह शीघ्र ही रूस भेजा गया। वहां भी वह कष्टोंसे खाली न रहा। यहांतक कि बीमारीके मारे उसके सब दांत गिर पड़े और पाचनशक्ति बिगड़ गयी। यद्यपि इन सब यन्त्रणाओंसे उसका शरीर कृश हो गया था, पर मन वैसा ही गंभीर, अटल एवं निग्रही बना हुआ था। जेलखानेमें भी उसे हमेशा यह चिन्ता लगी रहती थी कि "कहीं मेरे अन्तःकरणकी यह द्वेषवृत्ति लुप्त न हो जाय। वह अग्नि जो उस शासनसत्ताको भस्म

करनेके लिये प्रज्वलित हुई है बुझ न जाय। अत्याचारियोंके प्रति कहीं दया उत्पन्न न हो जाय।" पर उसकी यह चिन्ता निर्मूल थी, उसका वह निश्चय एक क्षणके लिये भी विचलित न हुआ। जिस उद्देश्यको लेकर वह जेलमें प्रविष्ट हुआ था, उसीके साथ वह वहांसे बाहर निकला।

जिस समय बाकुनिन जेलखानेमें था उसी समय ज़ार निकोलसका स्वर्गवास हो गया और द्वितीय एलेक्जेंडर सिंहासनारूढ़ हुआ। वह कुछ उदार स्वभावका था। उसने कई राजनीतिक कैदियोंको मुक्त कर दिया। यद्यपि उस रिहाईको सूचीमें बाकुनिनका नाम भी था पर ज़ारने उसे अपने हाथसे काट डाला। जब पुत्रशोकसे विह्वल बाकुनिनकी माताने बाकुनिनकी मुक्तिके लिये ज़ारसे प्रार्थना की तब जारने उसके उत्तरमें यही कहा कि बाकुनिनको छोड़ना खतरनाक है, सरकारसे द्वेष करनेके कारण वह जेलमें ठूंसा गया है, पर आश्चर्य है कि अभीतक उसके भावोंमें लेशमात्र भी परिवर्त्तन नहीं हुआ।

सन् १८५७ में वह साइबेरिया भेज दिया गया। सौभाग्यसे वहांका गवर्नर उसका सम्बन्धी था जिसके कारण वह वहां बड़े आरामसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगा। चार वर्षतक वहां रहनेके उपरान्त वह वहांसे भाग गया और कई प्रकारके कष्ट सहन करता हुआ अमेरिका होकर १८६१ में इंग्लैण्ड पहुंचा। तदनन्तर उसने अपना सम्पूर्ण जीवन अपने मतका प्रचार करनेमें ही व्यतीत किया। पर फिर भी उसे

जेलकी हवा खानी पड़ी। सन् १८६७ में उसने "प्रजा सत्तात्मक साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय समिति" (International alliance of Socialist Democracy) स्थापित की। बीचमें कुछ समय-तक वह इटलीमें भी रहा था। उसने वहांपर मेजिनीके विरुद्ध मजदूर लोगोंको अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्यका उपदेश दिया था। वहां इसने एक समिति भी स्थापित की थी। सन् १८६६ में वह मार्क्सके अन्तर्राष्ट्रीय संघमें सम्मिलित हो गया।

इसके दूसरे वर्ष फ्रेंच-जर्मन-युद्धमें जब दूसरे नेपोलियनकी बादशाहतका अंत हो गया तब उसने लियान्समें पेरिसके कम्यूनके समान प्रजासत्तात्मक राज्यप्रणाली स्थापित करनेका प्रयत्न किया पर उसमें वह असफल हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय संघमें भी उसके उग्र विचारोंके कारण लोग उसके विरुद्ध थे। अन्तमें सन् १८७२ में वह मताधिक्यसे संघके बाहर कर दिया गया। यद्यपि कैदखानेके असह्य कष्टोंके कारण उसका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था, पर तोभी उस महापुरुषने अपने संकल्पोंका प्रचार करनेमें तनिक भी आलस्य न किया। मरते दमतक वह उसमें प्रयत्नशील रहा। इस प्रकार अपने जीवनको लोकसेवाकी वेदीपर अर्पित कर यह महात्मा क्रान्तिकारियोंकी आश्रयभूमि स्विट्ज़रलैंडके बर्न नगरमें स्वर्गगामी हुआ।

बाकुनिनने "ईश्वर और राष्ट्र" (God and the State) नामक एक ग्रन्थ लिखा है। उसकी प्रस्तावनामें उसके दो अभिन्न-हृदय मित्र "कैफिरो" और "ऐलिसी" लिखते हैं —

"बाकुनिनके शत्रु और मित्र सभी लोग इस बातको भली प्रकार जानते हैं कि अद्भुत विचारशक्ति, दृढ़ निश्चय और अपूर्व कार्योत्साह आदि गुण इस महापुरुषमें कूट कूटकर भरे हुए थे। सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि क्षुद्र लाभोंको, जिनको प्राप्त करनेके लिये जनसमाज दिनरात व्यग्र रहता है, इसने हमेशा घृणाकी दृष्टिसे देखा है। रूसके ऊंचे कुलमें जन्म लेनेपर भी उसने ऐश आराम, स्वार्थ आदि अवगुणोंसे अलग रहकर समाजको निर्दोष करनेका बीड़ा उठाया था। क्षणभरके लिये भी उसने कभी अपने सुख और स्वार्थकी ओर दृष्टिपात नहीं किया। अपने जीवनमें देशत्याग, कारागृहवास आदि अनेक कठिनाइयोंका सामना करनेपर भी वह अपने उपदेशसे विचलित न हुआ।

बाकुनिनका सारा जीवन अस्वस्थताहीमें व्यतीत हुआ, इसी कारण उसे अपने मतका विस्तृतरूपसे विवेचन करनेको समय ही न मिला। उसका यही एक ग्रन्थ (ईश्वर और राष्ट्र) प्रकाशित हुआ, और वह भी अधूरा। बाकुनिनने भी एक बार यह लिखा था कि, "मेरा जीवन ही अधूरा है।"

बाकुनिनके विचार अत्यन्त पुरोगामी और क्रान्तिकारक थे। हर एक प्रकारकी बाह्यसत्ताका वह कट्टर विरोधी था। वह ईश्वरसे लेकर छोटीसे छोटी शक्तियों एवं समस्त आदर्श व्यवस्थाओंको अस्वीकार करता था। वह कहता है कि सृष्टिके नियमोंका पालन करने ही पर मनुष्यकी स्वतन्त्रता रक्षित रह

सकती है। क्योंकि प्रकृतिके इन नियमोंको वह स्वयं ही स्वीकार करता है। मानवीय या ईश्वरीय किसी भी कारणसे और बाहरी और पराई इच्छासे उन नियमोंको स्वीकार करनेके लिये वह बाध्य नहीं। वे नियम तो अपनी इच्छासे ही बनाये गये हैं, बाकुनिनके मतसे उपरोक्त नियमोंके द्वारा समाजके व्यक्तिस्वातंत्र्य-सम्बन्धी प्रश्न सहज ही हल हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिको सृष्टिनिरीक्षण और शास्त्राभ्यासके द्वारा प्रकृतिके नियमोंकी जानकारी प्राप्त करके संसारमें उसका प्रचार करना चाहिये। समाजका प्रत्येक व्यक्ति जब इन नियमोंको जान लेगा तब वह उनका पालन करेगा। मनुष्य सृष्टिका एक अंग है, अतः ये प्रकृतिके नियम उसके जीवनके नियम कहे जा सकते हैं जिनका पालन करना उसके स्वभावका एक धर्म है। इस प्रकार जब प्रकृतिके नियमोंका पालन होने लगेगा, तब सब प्रकारके नियंत्रण, कानून और राज्यसत्ता आदिकी आवश्यकताएं नष्ट हो जायंगी।

समाजके भिन्न भिन्न विभागों और उन विभागोंके पदाधिकारियोंका नाम मिटना जरूरी है। इन अधिकारोंसे समाजके एक समुदायके लोगोंको दूसरे समुदायपर अत्याचारकर अनुचित लाभ उठानेका अवसर मिल जाता है और इससे उनकी बुद्धि और मनोवृत्ति दूषित हो जाती है।

बाकुनिनका कथन है कि संसारसे सब धर्म उठा दिये जायं और मानवीय हृदयोंमें पारलौकिक और ईश्वरीय न्यायके स्थानपर मानवन्यायकी स्थापना हो। सब प्रकारकी विवाहप्रथा तोड़

दी जाय। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिसे बननेवाली सब जातियां और वर्ग तोड़ दिये जायं। प्रत्येक मनुष्यके चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हक बराबर रखे जायं। उत्तराधिकारकी प्रथा नष्ट कर दी जाय। भूमि, श्रमके साधन, तथा सब प्रकारकी पूंजी समाजके स्वामित्वमें रखी जाय, और स्वेच्छाप्रेरित मजदूरोंको उसका उपयोग करने दिया जाय। प्रत्येक श्रमजीवीको उसके परिश्रमका बदला मिलना आवश्यक है। भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें श्रमजीवियोंके अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किये जायं और उनमें पारस्परिक प्रेम बढ़ाकर उद्योग धंधोंकी आवश्यक व्यवस्था की जाय। इस प्रकार लोगोंके हृदयमें स्थित मिथ्या देशाभिमान और परराष्ट्रोंके प्रति द्वेषभाव दूर कर दिया जाय, जिससे सारे संसारके श्रमजीवी मिलकर एक हो जायं।

इन उद्देशोंकी पूर्तिके लिये बाकुनिनने जिन उपायोंकी योजना की है वे बहुत ही क्रांतिकारक हैं। भविष्यमें उसके उद्देशोंकी सिद्धिमें जो राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएं बाधक हो सकती थीं उन सबको वह नष्ट कर देना चाहता था। उसका कथन है कि इस कार्यमें लगे हुए व्यक्तिको अपने वैयक्तिक हित, कोमल मनोभावना, धर्मविचार, राष्ट्राभिमान, या नीति-कल्पनाके कारण उससे कदापि परावृत्त न होना चाहिये। उसका उद्देश सदा यही होना चाहिये कि समस्त साध्य उपायोंसे प्रस्तुत समाजको बिलकुल नष्ट कर दिया जाय। उस कार्यमें यदि दुष्टताका भी उपयोग करना पड़े तो करनेमें नहीं हिचकना

चाहिये। इस विध्वंसके पश्चात् जो व्यवस्था होगी, वह लोगोंके कार्यों और भावोंके अनुसार होगी। परन्तु उसका निर्णय आनेवाली पीढ़ियां स्वयं ही कर लेंगी।

रूसमें बहुतसे लोग बाकुनिनके अनुयायी हो गये। यूरोपके दक्षिणी भागमें भी साम्यवाद-सम्बन्धी आन्दोलनपर इसके विचारोंका प्रभाव पड़ा। १८७३ में स्पेनमें तत्कालीन समाज-पद्धतिके विरुद्ध जो बलवे हुए थे वे इसीके कारण हुए थे। उसकी मृत्युके पश्चात् उसके अनुयायी फ्रांसमें उसके उद्देशोंका प्रचार करने लगे। इसी समय फ्रांसकी खानोंके मजदूरोंने दंगा किया, जिससे पुलिसने कई अराजकवादियोंको गिरफ्तार किया। इन कैदियोंमें विख्यात प्रिन्स क्रोपाट्किन भी था।

अराजकवादके सम्बन्धमें प्रिन्स क्रोपाट्किनके ग्रन्थ आज-तक प्रमाणभूत माने जाते हैं। उसके "अनार्किस्ट कमुनिजम" और "फील्ड, फैक्टरीज़ एण्ड वर्कशाप" नामक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उसके विचारोंका विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रिंस क्रोपाट्किनका जन्म रूसके एक बहुत उच्चकुलमें हुआ था। यहांतक कि उसके मित्र कहा करते थे कि रूसके सिंहासनपर जारकी अपेक्षा उसके कुलका विशेष अधिकार है। उसका स्वभाव प्रेमपूर्ण और अन्तःकरण कोमल था। बाल्यकालमें राजदरबारमें रहनेसे वह राज्यपद्धतिसे बहुत परिचित हो गया था और इसी कारण तत्कालीन राज्यपद्धतिसे वह घृणा

करता था। भौतिक एवं कृषिशास्त्रसे वह भली प्रकार परिचित था। कारखानेकी अन्तर्व्यवस्था भी उससे छिपी हुई नहीं थी।

उसका पिता गुलामोंका मालिक था, इसलिये वह बाल्यावस्थासे ही ऐसे दृश्य देखा करता था जो टाम काकाकी कुटिया (Uncle Tom's Cabin) में पढ़नेको मिलते हैं दासोंके साथ जो निर्दयतापूर्ण व्यवहार किये जाते थे उन्हें देखकर उसके हृदयमें दयाका स्रोत उमड़ आता था। सोलह वर्षकी अवस्थासे उसे राजकीय परिसेवकों (Pages) की शिक्षा मिलने लगी। घरके अन्दर रहकर उसने दीनों और अनाथोंके प्रति प्रेम करना सीखा था, अब राजदरबारमें रहकर उसने बड़े आदमियोंके प्रति घृणा करना सीखा। उसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि रूसी दमनकारक सरकारसे सेना और शासनके विषयमें किसी तरहके सुधारकी आशा रखना बिलकुल व्यर्थ है। उसके पश्चात् कुछ दिनोंतक वैज्ञानिक विषयका अध्ययन करके वह साम्यवादके आन्दोलनमें सम्मिलित हो गया।

हम ऊपर लिख आये हैं कि क्रोपाट्किन अच्छा ग्रन्थकार भी था और उसने कई ग्रन्थ भी लिखे हैं। क्रोपाट्किनके ग्रन्थोंमें जिन बातोंका विवेचन किया गया है वे दो भागोंमें विभक्त की जा सकती हैं ; (१)आर्थिक(२)राजकीय। आर्थिक मतमें दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। एक सम्पत्तिके उत्पादनका, दूसरा उसके व्ययका। इनमेंसे पहले प्रश्नके संबन्धमें प्रायः एक निश्चित मर्यादातक अराजकवादी और साम्यवादी दोनोंमें मतैक्य है।

दोनोंका ही यह मत है कि आधुनिक श्रम और मूलधनके बीच रहा हुआ अन्तर नष्ट कर डालना चाहिये। कारखानों और जमीनपर समाजका अधिकार रक्खा जाय। श्रमजीवियोंके औद्योगिक संघ ही इन कारखानोंको चलायें। मतलब यह कि मूलधनवालोंकी सत्ता निर्मूल कर दी जाय। यहांतक अराजकवादी और साम्यवादी साथ २ चलते हैं परन्तु सामाजिक स्वामित्वकी बात छिड़नेपर कारखानोंमें काम करने और तैयार हुए मालके बटवारेके सम्बन्धमें दोनोंमें मतभेद हो जाता है। साम्यवादी कहते हैं कि वर्तमानमें जो रोजाना मजदूरी दी जाती है, उसे बन्द करके, जो लोग काम करें या कमसे कम काम करनेको तैयार हों उन्हें मालकी पैदावारमें हिस्सा दिया जाय, और जो काम न करना चाहें उन्हें या तो कामपर लगाया जाय या भूखों मरने दिया जाय। आगे चलकर इनमें दो मत हो जाते हैं। एक मत कहता है कि हलके और ऊंचे अनाड़ी और कुशल, सबको बराबर हिस्से दिये जायं। दूसरा मत कहता है कि मालका बटवारा कामकी योग्यताके अनुसार होना चाहिये। परन्तु इससे इस सिद्धान्तमें बाधा नहीं आती कि "बिना कर्म किये समाजमें किसीको कुछ भी न मिले।" लेकिन अराजकवादी कहते हैं कि बलप्रयोग करके या क्षुधासे पीड़ित करके काम करनेके लिये मजबूर करना ठीक नहीं। रोजाना मजदूरीकी पद्धति बन्द करके किसीसे बलात् कार्य न कराया जाय। प्रत्येक व्यक्तिको अपने इच्छानुसार जितना समय मिले उतने ही समयतक कार्य्य करनेको पूर्ण स्वाधीनता रहे।

समाजके प्रत्येक व्यक्तिको यथावश्यक जीवनोपयोगी सभी सामग्री बिना मूल्य दी जाय। विलाससामग्री इतने परिमाणमें उत्पन्न नहीं हो सकती जो सभीको पर्याप्त हो, तोभी ये पदार्थ मुफ्तमें ही दिये जायं। हां, वितरण करते समय इस बातका अवश्य ध्यान रक्खा जाय कि हरएक पदार्थ सबको समान भागमें पर्याप्त हो। ऐसा होनेसे वैयक्तिक सम्पत्ति न रहेगी, जिसका न रहना ही अच्छा है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि कोई भी काम करनेके लिये मजबूर न किया जायगा और बिना परिश्रमके ही प्रत्येक जीवनोपयोगी सामग्री पा सकेगा तो फिर परिश्रम करनेके झंझटमें पड़ेगा ही कौन? और जब कोई परिश्रम ही न करेगा तो फिर आवश्यक वस्तुएं तैयार ही कैसे होंगी? दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होगा कि सबको इच्छित परिमाणमें कोई भी वस्तु, चाहे वह आवश्यक ही क्यों न हो मिलती रहनेसे वह यथेष्ट परिमाणमें कैसे उत्पन्न हो सकेगी।

दूसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए क्रोपाट्किन कहता है कि अन्न वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थ किसी नियमित परिमाणसे अधिक कभी खर्च नहीं हो सकते। मनुष्यकी उपभोगशक्तिने उसके उपभोगको मर्यादित कर दिया है। अतएव यदि वे मुफ्तमें भी मिलेंगे तोभी मनुष्य एक विशेष परिमाणसे अधिक संख्यामें कभी न लेगा। उदाहरणार्थ आजकल नलोंके द्वारा यद्यपि लोगोंको पानी मुफ्तमें मिलता है पर तोभी यह कहीं नहीं देखा जाता कि

लोग दिनरात उन्हें खुले रखते हैं। अपना कार्य होते ही नल बन्द कर दिये जाते हैं। यही सिद्धान्त अन्न और वस्त्रोंपर भी लग सकता है, पर तोभी इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुफ्तमें सामग्री मिलनेपर कुछ अधिक व्यय अवश्य होगा।

क्रोपाट्किन और अन्य अराजकवादियोंका कथन है कि आज भी अनाज आदि आवश्यक पदार्थ जरूरतसे ज्यादा उत्पन्न होते हैं। फिर क्या कारण है कि इस समय भी लोगोंको ये सामान आवश्यक परिमाणमें प्राप्त नहीं होते? इसका मुख्य कारण यह है कि लोगोंके पास पदार्थोंको खरीदनेके लिये आवश्यक द्रव्यकी कमी है। द्रव्यकी कमीका यह अपवाद सामग्री मुफ्तमें मिलनेपर मिट जायगा और आगे वैज्ञानिक रीतिसे खेती करनेपर पैदावार भी बढ़ जायगी, जिससे रही सही कमी भी दूर हो सकती है। माल्थसने इस भविष्यवाणीको झूठा सिद्ध करके दिखाया है। उसके विरोधमें क्रोपाट्किन अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करते हुए फ्रांसके उन वैज्ञानिकोंकी ओर उङ्गली उठाता है जो इस बातकी प्रतिज्ञा करते हैं कि खराबसे खराब जमीन भी थोड़े परिश्रममें उपजाऊ बनायी जा सकती है और प्रत्येक खेतमें एक ही वर्षमें पांच छः फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। जितनी जमीनमें आजकल पांच छः टन घास पैदा होता है उसीमें ५० से १०० टनतक घास पैदा की जा सकती है, एवं एक वर्गमील भूमिमें इतना अनाज पैदा किया जा सकता है जो एक हजार मनुष्योंको पर्याप्त हो। ये बातें केवल ज़बानी जमा खर्च नहीं,

बल्कि प्रयोग द्वारा प्रमाणित की हुई बातें हैं। इस समय इङ्गलेण्डमें चैम्पियन नामक एक सज्जन हैं जो एक एकड़ भूमिपर इतनी घास पैदा करते हैं जो तीन पशुओंको पर्याप्त हो ; जब कि वहांके अन्य स्थानोंपर एक पशुके लिये दो तीन एकड़ भूमि दरकार होती है।

अतएव यह बात सिद्ध हो गयी कि वर्तमान और भविष्यमें बहुत समयतक समाजके सब व्यक्तियोंको सब आवश्यक सामान देते रहनेपर भी भौतिक दृष्टिसे पैदावारमें कमी न होगी।

अब पहले प्रश्नपर विचार करना है कि यदि सब लोगोंको आवश्यक सामग्री मुफ्तमें मिल जायगी तो काम करनेके झंझटमें कौन पड़ेगा। किसीको क्या जरूरत रहेगी कि वह व्यर्थ ही परिश्रम करके अपने शरीरको कष्ट दे।

क्रोपाट्किन इसका उत्तर देते हुए कहता है कि मानव-प्रकृति मिहनतसे घृणा नहीं करती। यथेष्ट काम करना उसे पसन्द है। आजकल लोग जो कार्य करना नहीं चाहते उसका कारण यह है कि उनके कार्यसे उन्हें सुख नहीं मिलता। उस कार्यके सुखको कुछ इने गिने श्रीमान् लोग लूटते हैं। इन्हें तो सिर्फ मजदूरीके गिने हुए पैसे मिलते हैं। परन्तु जब सबके हितका प्रश्न सम्मुख आता है, तब वे जी जानसे परिश्रम करते हैं। हां, यह सच है, कि सीमाके बाहर मनुष्य काम नहीं कर सकता। बेहद काम करनेसे मनुष्य जी चुराता है। इस बातको सभी जानते हैं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति चार घंटे अच्छी तरहसे काम

करे, और सब एकमत होकर उसकी उत्पादकतापर विशेष ध्यान दें, तो श्रमका अपव्यय बिलकुल बन्द हो जायगा, एवं इस चार घंटेके परिश्रमसे समाजके सब लोग मध्यम श्रेणीकी तरह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

जिस प्रकार अति परिश्रमसे मनुष्य घबराता है उसी प्रकार निकम्मे होकर बैठना भी वह पसन्द नहीं करता। यहांतक कि आजकलके बड़े बड़े श्रीमान् भी कुछ न कुछ उद्योग करते रहते हैं। समयको व्यतीत करनेके लिये एक न एक कार्य करना आवश्यक है। कुछ थोड़ेसे आलसी पिंडोंको छोड़, अन्य लोगोंको कुछ न कुछ कार्य किये बिना चैन नहीं पड़ता? इसका अनुभव पेंशनर लोग भली प्रकार करते हैं। यह सच है कि अधिक परिश्रमसाध्य और कष्टप्रद कार्य करना कोई पसन्द नहीं करता। इसके उत्तरमें कुछ शास्त्रज्ञ कहते हैं कि यंत्रोंका प्रचार होनेसे लोगोंका श्रम एवं कष्ट दोनों बच जायंगे और थोड़े श्रमसे माल भी अधिक तैयार होगा। परिश्रमकी मात्रा कम होनेपर सब लोग प्रसन्नतापूर्वक इसलिये कार्य करेंगे कि निकम्मे बैठना उन्हें बिलकुल पसंद नहीं और ज्यों ज्यों यंत्रोंका प्रचार बढ़ता जायगा त्यों त्यों ऐसे कार्य भी कम होते जायंगे जिन्हें करते करते लोग उकता जाते हैं।

इसके अतिरिक्त सामाजिक प्रतिष्ठाके लोभसे भी लोग कार्य करनेमें प्रवृत्त होंगे। जो व्यक्ति परोपकार-बुद्धिसे दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम काम करेगा, समाज उसे उतनी ही अधिक इज्जत

और सम्मान प्रदान करेगा। आन्तरिक भावना और प्रतिष्ठाके लोभसे भी कई लोग साहसपूर्ण, चातुर्य्ययुक्त और अधिक परिश्रमके काम करनेमें प्रवृत्त होंगे। वर्त्तमानमें भी कई विद्वान केवल यशके मन्दिरमें पहुंचनेके लिये सारा जीवन वैज्ञानिक खोजमें ही लगा देते हैं। वर्त्तमान कालमें भी जब कि लोगोंकी स्वार्थवृत्ति बढ़ रही है ऐसे महापुरुष पाये जाते हैं तो भविष्यत्में जब कि मनुष्यकी वृत्ति स्वार्थकी ओरसे हटकर केवल परोपकारकी ओर प्रवृत्त होगी ऐसे महात्मा इससे कई गुनी संख्यामें उत्पन्न होंगे।

इस प्रकार उक्त दोनों प्रश्न सहज ही हल हो जाते हैं। पहला यह कि श्रम करनेके लिये किसी प्रकारकी सख्ती न की जायगी तोभी कुछ अपवादोंके सिवाय सभी लोग परिमित श्रम अवश्य करेंगे। दूसरा यह कि ज्ञानकी सहायता और यांत्रिक उन्नतिसे उक्त परिश्रम द्वारा समाजके सब लोगोंको आवश्यक वस्तु यथेष्ट परिमाणमें मुफ्त मिल जाया करेगी। अतएव निश्चित हुआ कि—

१—समाजमें किसीसे बलात्कार कार्य्य न कराया जाय और किये हुए कार्यके बदलेमें किसीको वेतन, मजदूरी या अन्य किसी प्रकारका बदला न दिया जाय।

२—समाजके प्रत्येक व्यक्तिको उदरनिर्वाहार्थ आवश्यक वस्तु मुफ्त और काफी परिणाममें दी जावे। सुख भोगके वे पदार्थ जो काफी परिमाणमें उत्पन्न न हों, सबको बराबर बांट दिये जायँ।

अब हम अराजकपंथके दूसरे विभाग "राजकीय विभाग" पर कुछ विस्तृत विवेचन करेंगे।

मार्क्सने प्रतिपादित किया है कि आदर्श समाज व्यवस्था होनेपर सरकारका आधुनिक स्वरूप नष्ट हो जायगा। उनके जिम्मे केवल भिन्न भिन्न औद्योगिक संघकी पारस्परिक-व्यवस्था-का उपद्रवहीन कार्य रह जायगा। परन्तु उसने सरकारके जिम्मे जिन जिन कार्यों को देनेका विचार स्थिर किया है उसको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि सरकारकी सत्ता किसी प्रकार कम हो जायगी। उलटे उससे तो उसकी सत्ता बढ़ना ही सम्भव है। मार्क्सने 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो'में लिखा है कि आवागमनके सब साधनोंकी व्यवस्था सरकारके जिम्मे रहे, और मध्यवर्ती बंकके द्वारा वह क्रेडिट (साख) पूर्तिकी व्यवस्था करे। इससे सरकारकी जिम्मेदारी घटेगी या बढ़ेगी इसे पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

प्रजासत्तात्मक पद्धत्तिके पृष्टपोषकोंका कथन है कि एक तो श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि ही उसकी सत्ताका उपयोग करेंगे, दूसरे उस समय वर्णभेद बिलकुल नष्ट हो जायगा। सारा समाज ही श्रमजीविमय हो जायगा। इससे सब प्रतिनिधि-सत्ताका उसी प्रकार उपयोग करेंगे जिससे सारे समाजका हित हो।

लेकिन क्रोपाट्किन और उसके अनुयायी इस मतसे सहमत नहीं। उनका कथन है कि सत्ता चाहे एकके हाथमें रहे अथवा

अनेकके उसले समाजको समान ही कष्ट होगा। अधिकारी चाहे कैसा ही क्यों न हो अधिकारके शासनपर आसीन होते ही उसकी दृष्टि परिवर्तित हो जाती है,उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है, और उन (अधिकारियों) का समाज ही अलग बन जाता है। वे अन्तःकरणसे इस बातका अनुभव करने लग जाते हैं कि प्रजाकी अपेक्षा उन्हें हिताहितका ज्ञान अधिक है एवं जो कुछ भी वे कर रहे हैं वही समाजको हितकारक है। मतविरोधको वे सहन नहीं कर सकते, और जो कोई उनका विरोध करते हैं उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं। निर्वाचकोंका प्रतिनिधियोंपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसका उदाहरण प्रायः सभी प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्योंमें पाया जाता है। अतएव यह अनुमान करना कि श्रीमानोंके हाथकी सत्ता श्रमजीवियोंके हाथोंमें जानेपर समाजकी दशा सुधर जायगी बिलकुल व्यर्थ है। वर्त्तमानमें भी पार्लमेन्टके अन्दर श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि जाते हैं पर वे हमेशा अपने समाजकी रुखको देखकर कार्य नहीं करते हैं कितने मनमाना कार्य कर बैठते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि भविष्यत्में आदर्श स्थिति प्राप्त होनेपर यदि श्रमजीवियोंके हाथमें भी सत्ता रही तो उसका परिणाम बुरा होगा।

क्रोपाट्किन लिखता है कि "मानवीय इतिहासमें प्रातिनिधिक पद्धतिको जो कुछ करना था उसे वह कर चुकी। उसीके द्वारा पहलेकी वैयक्तिकराजपद्धति नष्ट हो चुकी। उसीके कारण

जनता अब सार्वजनिक प्रश्नोंकी ओर ध्यान देने लगी है, किन्तु इससे यह अनुमान कर लेना भारी भूल होगी कि यही पद्धति आदर्श समाजके अनुकूल होगी। समाजकी आर्थिक स्थितिके अनुरूप ही उसकी राजकीय स्थिति होगी और समाजकी आधुनिक आर्थिक अवस्थाका मूल वैयक्तिक सम्पत्तिके नष्ट हो जानेपर आधुनिक राजकीय व्यवस्थामें परिवर्तन न होना असम्भव है। आधुनिक जीवनक्रमसे इस परिवर्तनकी दशाका अनुभव हो सका है। इस परिवर्तनसे सरकारकी सत्ता न बढ़ सकेगी। वर्त्तमानमें सरकार जिन जिन कार्योंके करनेमें हाथ डालती है भविष्यत्में वे ही कार्य पारस्परिक अनुमतिसे बने हुए मण्डल और संस्थाओंके द्वारा ही सम्पादित होंगे।

अराजक लोग खुले मैदानमें इस बातको प्रतिपादित करते हैं कि समाजमें किसी प्रकारके वाह्य शासन और सरकारकी संज्ञा धरनेवाली किसी संस्थाकी आवश्यकता नहीं। इससे यह कल्पना न करना चाहिये कि सरकारके न होनेसे चारों ओर गोलमाल एवं गड़बड़ हो जायगी। अराजक भी समाजमें सुव्यवस्थाका रहना अति आवश्यक समझते हैं, पर उनका कथन है कि यह सुव्यवस्था कोई किसीपर बलात्कार न करे। सब यह सोचकर कि उसमें समाजका हित है उस कार्यको अपने हृदयसे करें। ऐसी व्यवस्था करना असम्भव नहीं। श्रीमान् लोगोंकी वर्त्तमान सत्तामें भी इसी प्रकारकी व्यवस्था रक्खी जाती है। इसकी पुष्टिके लिये वे लोग रेलवे का उदाहरण देते

हुए कहते हैं कि सभी राष्ट्रोंकी रेलवे कम्पनियां पारस्परिक सम्मतिसे टाइम-टेबिल निश्चित करती हैं। यद्यपि कोई उन्हें इसे पालन करनेको मजबूर नहीं करता तोभी उस निश्चित टाइम-टेबिलका पालन करनेमें वे तनिक भी त्रुटि नहीं करतीं। मतलब यह कि पारस्परिक सम्मतिका उपाय बहुत ही उपयोगी है। इससे वैयक्तिक स्वार्थपरता नष्ट हो जायगी और समाजके सब कार्य सुव्यवस्थित रूपसे चला करेंगे।

इन सिद्धान्तोंपर कई प्रकारके आक्षेप किये जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि राज्यसत्ताके नाम शेष हो जानेपर कोई किसी-को दबानेवाला न रह जायगा, जिससे महाभारत शान्तिपर्वके ६८ वें अध्यायमें कहे अनुसार "किसीपर किसीका अधिकार न रहेगा।" स्वेच्छाचार और डकैती बढ़ जायगी। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी। कृषि और वाणिज्यका नाश हो जायगा। विवाहप्रथाका अस्तित्व उठ जायगा, धर्म और यज्ञका नाम शेष हो जायगा और सारे देशमें हाहाकार मच जायगा।

क्रोपाट्किन इस आक्षेपका उत्तर देते हुए कहता है कि "इस विषयपर ज्यों ज्यों विचार किया जाता है त्यों त्यों यह विश्वास निश्चय होता जाता है कि आजकल समाजमें जितने दुष्कृत्य होते हैं उन सबोंका उत्तरदायित्व समाजपर ही है। सजा देनेसे या फांसीपर लटकानेसे इन दुष्कृत्योंकी कमी नहीं हो सकती। आज-कल न्यायालयोंके अन्दर जितने मुकद्मे आते हैं उनमें अधिकांशको

उत्पत्तिका कारण मनुष्य—समाजकी दुर्वृत्ति नहीं वरन् समाजकी द्रव्योत्पादन या द्रव्यविभाजन करनेकी अव्यवस्था ही है। इसके अतिरिक्त मानवप्रकृतिकी दुर्वृत्तिके कारण भी जो अपराध होते हैं वे भी फांसी और जेलखानेके डरसे कदापि कम नहीं हो सकते प्रत्युत् इनसे उनकी संख्या और भी बढ़ती है। हमारी गुप्तपुलिस, कैदखाने और फांसीपर लटकानेकी व्यवस्थाने ही समाजको उच्छृंखल बना दिया है, और इन्हींके कारण इसमें नीच मनोवृत्तियों और दुष्ट आदतोंका प्रचार होता जा रहा है नीतिनियमकी आड़में समाजके अन्दर जो जो घटनाएं होती हैं उन्हें देखकर कलेजा कांप उठता है। किस रीतिसे इन उपायोंका पता लगाया जा सकता है इसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं (Anarchist Communisme पृष्ठ ३१—३२)

वैयक्तिक सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर किसीको उदरनिर्वाह की चिन्ता न रहेगी। जिससे समाजका स्वरूप बदल जायगा, स्वार्थकी जड़ कट जायगी, और दुष्ट विचार उत्पन्न करनेवाली परिस्थिति ही नष्ट हो जायगी। इतनेपर भी यदि कोई भूला भटका किसी प्रकारका दुष्कृत्य कर भी डालेगा तो उसे किसी प्रकारकी सजा न देकर सहानुभूतिके साथ समझा दिया जायगा। इस प्रकार धीरे धीरे अपराधोंकी संख्या घटती जायगी और कुछ समयमें वे बिलकुल निर्मूल हो जायंगे।

यही अराजकपंथके राजकीय और आर्थिक भागोंका स्थूल स्वरूप है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो इसका और सब धर्मों एवं

तत्त्वज्ञानोंका साध्य एक ही है। तत्त्वज्ञान और धर्म भी यही उपदेश देते हैं कि मनुष्यको वाह्य नियन्त्रणकी उपेक्षा न कर केवल कर्त्तव्यसे प्रेरित होकर निष्काम बुद्धिसे कार्य्य करना चाहिये। मनुष्य-समाजमें ज्ञान और आत्मसंयमका इतना प्रचार होना चाहिये कि कानून और सरकारकी उनको कोई परवा ही न रहे। उनके पारस्परिक व्यवहार नीति और प्रेमसे युक्त हों। यही सिद्धान्त (वाह्यवन्धनकी अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणाकी स्थापना) अराजकवादियोंका भी है। उनका कथन है कि प्रत्येक प्रकारका वाह्य नियंत्रण मनुष्यकी प्राकृतिक स्वाधीनतापर आक्रमण करता है। अतएव उसको नष्ट करना अनिवार्य है।

आगे चलकर अराजकपंथवादी कहते हैं, सब आधुनिक संस्थाएं नष्ट कर दी जायं। तत्त्वज्ञान कहता है कि इनमेंसे कुछ संस्थाएं स्वार्थनिरोध और इन्द्रियनिरोधके लिये आवश्यक हैं। उन्हींके द्वारा मनुष्य अपने साध्यपर पहुंच सकता है। इस प्रकार अराजकपन्थ और धर्ममें केवल साध्यका अन्तर है, साधनका नहीं।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि यह पंथ रूसमें ही सबसे अधिक फैला है। उस जमानेमें रूसके समान यूरोपमें कहीं भी एकतन्त्री राज्यव्यवस्था नहीं थी। बिना कारणके कार्य कहीं नहीं होता। यही कारण है कि रूसमें बहुत फैलनेपर भी इस सिद्धान्तकी वायु यूरोपमें नहीं पहुंची। मानसशास्त्रका एक सिद्धान्त है कि जहां लोगोंका बंधन जितना ही दृढ़ होगा, उसका विरोध भी

उतना ही प्रबल होगा। जहांपर लोगोंको प्रगटमें राजनीतिक चर्चा करनेकी इजाजत नहीं रहती, वहांपर अप्रकटमें अत्याचार और क्रान्ति द्वारा उसे साध्य करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

रूसमें दो संस्थाएं बहुत प्राचीन हैं, जिनका वहांके समाज-पर गहरा प्रभाव पड़ा है। पहली संस्था है जारकी एकतन्त्र शासनकी पद्धति और दूसरी देहातियोंकी "मीर" नामक समाज-पद्धति। तातार, तुर्क, पोल, स्वीडन, लिथूनियन आदि शत्रु रूसको घेरे हुए थे। अतएव उस समय देशकी रक्षाके लिये एक-तन्त्री सरकारकी आवश्यकता थी। परन्तु एक बार स्थापित होते ही उस पद्धतिने वहां अपनी मजबूत जड़ जमा ली। जारकी सत्ता मर्यादित रखने या उसपर किसी प्रकारका प्रतिबन्ध डालनेवाली वहां कोई सभा नहीं। यूरोपके अन्य देशोंके समान वहांपर धर्माधिकारियोंका प्राबल्य भी नहीं। वहां ईसाई धर्मका ग्रीक-केथालिक नामक बिलकुल ही भिन्न मत प्रचलित है। उस मजहबके धर्माध्यक्षकी कदर रोमनकेथालिक धर्माध्यक्षके समान स्वतंत्र और राजासे श्रेष्ठ नहीं। प्रत्युत् वहांके धर्माधिकारीको राजाकी आज्ञाके अनुकूल चलना होता है। जारने वहांके सरदा-रोंको भी हतवीर्य कर डाला है, अतएव इंग्लैण्डके समान वहां सरदारोंका प्राबल्य भी नहीं। यूरोपके अन्य देशोंमें धनी, व्यापारी, कारखानेदार आदि लोगोंका "मध्यम" नामक एक वर्ग है, पर रूसमें व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति न होनेसे उसका भी अस्तित्व नहीं। इन सब कारणोंके एक ही स्थानपर एकत्रित

हो जानेसे जारकी सत्ता स्वेच्छाचारितासे पूर्ण और बहुत निरंकुश है। पीटर महानके समान कुछ जारोंने इस सत्ताका उपयोग कर देशका बहुत कुछ हित किया, पर खासकर इस सत्ताका उपयोग देशकी उन्नतिके लिये न कर, अपने अधिकार और सुखको निर्विघ्न रखनेके लिये ही किया जाता है।

रूसकी दूसरी संस्थाका नाम है "मीर"। इसमें और भारतवर्षकी ग्राम्यपंचायतमें बहुत कुछ साम्य है। प्रत्येक ग्राममें एक एक मीर रहता है। ग्रामकी सब जमीन मीरके अधिकारमें रहती है। मीरके और सब ग्रामवासियोंके हक बराबर रहते हैं। भारतीय ग्राम्य पंचायतोंके समान ही मीर सब ग्रामकी व्यवस्था करता है। प्रत्येक गांवका मीर और उसकी अन्तर्व्यवस्था स्वतंत्र प्रकारसे चलती है और प्रत्येक ग्राम अपनी भौतिक आवश्यकताएं आप ही पूरी कर लेता है। जमीनका कर और सेनाके लिये सैनिक देनेका कार्य भी इसीके जिम्मे रहता है। इससे जारको भी बड़ी सुविधा रहती थी। हजारों व्यक्तियोंसे भिन्न भिन्न सम्बन्ध रखनेकी अपेक्षा अकेले मीरसे सम्बन्ध रखना बड़ा सहज है और इसी कारण कई राज्यक्रान्तियां होनेपर भी मीरके जीवनमें कोई धक्का न पहुंचा। जारको मीरकी अन्तर्व्यवस्थामें हाथ डालनेका कोई मौका ही न आया। मीरके ही कारण रूसी* कृषकोंपर संसारके परिवर्तनका प्रभाव न पड़ा। लेकिन इस कारण उनके जीवनमें एक प्रकारके शैथिल्यका प्रादुर्भाव हो गया। संसारकी सामयिक समीरका उनके शरीरमें

संचार न होनेसे उनके विचारोंका विकास बिलकुल न होने पाया। वे यहांतक नहीं जानते थे कि सुधार किस चिड़ियाका नाम है। राज्यव्यवस्थासे उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होनेसे उस ओर उन्होंने ध्यान न दिया। "कोउ नृप होउ हमें का हानी" की नीतिके अनुसार उनकी स्थिति थी। इसीसे सारे यूरोपके अन्दर रूसके समान अज्ञानी, चैतन्यशून्य और पंगु समाज दूसरे स्थानपर ढूंढ़े भी नहीं मिलेगा। इसका सब दोष यदि मीरके सिरपर मढ़ा जाय तो कोई अनुचित न होगा। जार युद्ध और ऐशोआरामके लिये प्रजासे जबर्दस्ती सैनिक और कर वसूल करता था। ये सब अत्याचार रूसी कृषक चुपचाप सहन कर लेते थे। इन अत्याचारोंके असह्य हो जानेपर कभी बलवे हो जाते थे पर वे सुसंगठित न होनेके कारण शीघ्र दबा दिये जाते थे, और बलवाइयोंको कठोर ंड दिया जाता था। इन सब कारणोंसे कृषक अथाह नैराश्य-सागरमें गोता लगाकर हाथपर हाथ धरे प्रारब्धको ओर देखा करते थे। यह उनमें एक आदत सी हो गयी थी।

ऐसी दशा होनेपर भी रूसका यूरोपके अन्य देशोंसे थोड़ा बहुत सम्बन्ध हमेशा बना रहता था। अतएव यदि दबे छुपे वहांकी कोई कल्पना रूसमें प्रविष्ट हो जाय तो कोई आश्चर्य्य नहीं। प्रारम्भमें रूसके उच्चकोटिके लोगोंमें अन्य देशोंके आचार व्यवहार और स्वातंत्र्य भावोंका प्रचार होने लगा। कुछ दिनोंके पश्चात् इस प्रकारके मतका होना एक तरहके फैशनमें परिग-

णित होने लग गया। सन् १८५५में अलेक्ज़ेंडर ज़ारके सिंहासनपर बैठा, उसके मत कुछ उदार थे अतएव वह राज्यव्यवस्थामें सुधारकर लोगोंको कुछ अधिकार प्रदान करना चाहता था। उस समयतक रूसी कृषक गुलाम समझे जाते थे, लेकिन उसने उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। देशमें नवीन न्यायालय स्थापित किये गये। लोगोंको स्थानीय स्वराज्य दिया गया एवं शिक्षाप्रचारकी व्यवस्था की गयी।

इन सब सुधारोंसे लोगोंके मनमें कुछ कुछ आकांक्षाएं उत्पन्न होने लगीं, जिससे वहांके समाजमें कुछ कुछ जीवन दिखायी पड़ने लगा। इसी समय रूसमें यूरोपके पुरोगामी और क्रान्तिकारक विचारोंका समावेश हुआ। निराशा और अज्ञानके अन्धकारमें पड़े हुए रूसी समाजको एकाएक प्रकाशकी किरण दिखायी दी। अन्धेको लाठी मिलनेके समान इन लोगोंको इन क्रान्तिकारक विचारोंसे आनन्द हुआ। उन्होंने इन विचारोंका हृदयसे अभिनन्दन किया, और उस अभिनन्दनके साथ ही उन्हें उस पराधीनताके बन्धनोंको तोड़नेकी इच्छा हुई जिसमें वे जकड़े हुए थे। रूसके इस क्रान्तिकारक आन्दोलनको "विध्वंसक" (Nihilist) संज्ञा दी गयी। इस मतके अनुयायियोंको किसी प्रकारकी सत्ता पसन्द न थी। किसी भी मत, सम्प्रदाय और सिद्धान्तको केवल विश्वासपर पूजना उनकी शानके खिलाफ था। समाजकी सब राजकीय और कौटुम्बिक संस्थाएं, धर्म और नीतिसे उनकी दृष्टिमें त्याज्य और दोषपूर्ण

थीं। वे उन सबको नष्ट करके समाजकी एक नवीन ढङ्गसे रचना करना चाहते थे। क्रमशः और धीरे धीरे सुधार करना वे अपनी शानके खिलाफ समझते थे। कला, कौशल, काव्य एवं कोमल मनोविकारोंको वे तुच्छ दृष्टिसे देखते थे। भौतिक शास्त्र और बुद्धिका ही वे सबसे अधिक आदर देते थे। इन सब बातोंकी इनकी बाह्य नीतिमें गणना की जाय तो अनुचित न होगा। असलमें समाजके दीन दुखी लोगोंका सुधार करना ही इनकी आन्तरिक नीति थी। लेकिन समाजकी एक भी संस्था और शासनपद्धतिसे उसका सुधार होते न देख वे बड़े चिढ़ गये थे, और इसी सात्विक आवेशमें आकर वे सब प्रकारके विध्वंसक कार्य करनेको उतारू हो गये। वे समाजके सब लोगोंको समान समझते थे; दूसरे अलेक्जेंडरके सिंहासनारूढ़ होनेके समय इस मतके अनुयायियोंने आधुनिक व्यवस्थाको नष्ट करनेका यत्न आरम्भ किया। इस ओर ध्यान न देकर यदि जार अपने निजके उदार मतानुसार राजकीय और अन्य सुधारोंका क्रम जारी रखता तो वहांसे इस मतका अस्तित्व शीघ्र ही उठ जाता; क्योंकि तत्कालीन शोचनीय परिस्थितिके कारण ही इस मतका प्रचार हो पाया था। यदि वह परिस्थिति ही नष्ट कर दी जाती तो इस मतका कोई आधार न रह जाता। लेकिन जारके ये सुधार देशके पुराने श्रीमानोंको पसन्द न थे। उनके स्वार्थमें इन सुधारों-से भारी धक्का पहुंचा था। इससे वे यही मौका देख रहे थे कि किसी प्रकार जारसे इन सुधारोंका होना बन्द करवाया जाय।

बस, ज्योंही निहिलिस्टोंका प्रचार हुआ, त्योंही जारके मनमें उन्होंने यह बात जमा दी कि यह दल उन्हीं सुधारोंका नतीजा है। अस्थिर बुद्धिजारका भी मन यह बात सुनकर मैला हो गया। दूरदर्शितासे रहित होनेके कारण वह स्वयं कुछ भी नहीं सोच सका। इतनेमें ही सन् १८६६ में "कैरोकेजाप" नामक व्यक्तिने जारको मार डालनेकी कोशिश की, जिससे जारका मन और भी बिगड़ गया, और उसने शीघ्रही धरपकड़ प्रारम्भ कर दी।

यूरोपमें अन्यत्र प्रचलित साम्यवादियोंके प्रयत्नसे रूसके नवयुवकोंमें जागृति होने लगी। दमननीतिसे उस उत्साहको नष्ट करना असंभव था। मार्क्सका अन्तर्राष्ट्रीय संघ श्रमजीवियोंमें जोर शोरसे कार्य कर रहा था। जर्मनीमें प्रजासत्तात्मक साम्य-वादी पक्ष अपने मतका प्रचार कर रहा था। सन् १८७० में पेरिसमें भी कुछ समयके लिये कम्यूनने अपना प्रजासत्तात्मक साम्यवादी राज्य स्थापित किया था। इन सबका प्रभाव रूसपर भी पड़ता था। रूसके सैकड़ों छात्र फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैंडमें शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। सन् १८७३में एक फरमान निकालकर जारने उन सबको बुला लिया। ये विद्यार्थी भी अपने साथमें अन्य स्थानोंके जागृतिकारक भाव लेते आये थे। इनमें अधिकांश बाकुनिनके अराजक पंथके ही भाव थे। वे निहिलिस्ट पंथके मतोंकी अपेक्षा अधिक सौम्य और विधायक थे। इन सब विद्यार्थियों-का उद्देश देशके सब लोगोंसे मिल जुलकर जागृति उत्पन्न करनेका था। इसलिये वे सब लोग छोटे२ खेड़ोंमें फैल गये और

वहांके लोगोंसे मिल जुलकर अपना कार्य करने लगे। ये छात्र भी कृषकोंकी तरह मोटे कपड़े पहनते और खेती करते थे, यहां-तक कि बड़े बड़े धनाढ्योंके लड़के भी जिन्हें खेती करनेका बिल-कुल अभ्यास न था साधारण मजदूरोंकी तरह कठिन परिश्रम करते थे। ऐसा करके वे श्रमजीवियोंको अपने दलमें मिलानेकी कोशिश करते थे। इस प्रकार रूसके नवयुवक अपूर्व उत्साह और अलौकिक स्वार्थत्यागसे जागृति फैलानेका प्रयत्न करने लगे, पर अनुभवहीन होनेके कारण विशेष सावधानी और चतुरतासे कार्य करनेमें वे असमर्थ हुए। सरकारको यह बात मालूम होते ही उसने उनको गिरफ्तार करनेका हुक्म दिया, जिससे तीन ही वर्षमें (१८७३-७६) दो हजार युवक कैद कर लिये गये।

इस धरपकड़से बहुत परिवर्तन हो गया। जब रूसी युव-कोंको अपनी भूल मालूम हुई तो उन्होंने अपनी कार्यप्रणालीको बदल डाला। वे देहातोंमें जाकर रहने लगे, और धीरे धीरे लोगोंको उत्तेजना देकर जारके विरुद्ध भड़काने लगे। कुछ दिन पश्चात् फिर जब उन्हें यह मालूम होने लगा कि अशिक्षित कृष-कोंको अपने अनुकूल करना बहुत कठिन है तो फिर उन्होंने अपनी कार्यपद्धतिको बदला, और जार या अन्य कर्म-चारियोंके विरुद्ध गुप्तरीतिसे सावधानीपूर्वक कार्य करना निश्चय किया। बाकुनिनका यह उपदेश था कि समाजमें अम-र्यादित स्वातन्त्र्य होना चाहिये। परन्तु उसके अनुयायियोंने इस अमर्यादित स्वातन्त्र्यको प्राप्त करनेके लिये जिस गुप्त मण्डलकी

स्थापना की उसमें आज्ञापालनके लिये बहुत कठोर नियम बनाया गया।

एक मध्यवर्ती मण्डल स्थापित किया गया और यह नियम बनाया गया कि सब मण्डल बिना किसी शिकायतके उसकी आज्ञाओंका पालन करें। इस प्रकार कार्य प्रारम्भ किया गया। इस मण्डलका उद्देश बड़े २ अधिकारियों और जारका खून करनेका था। दिन दहाड़े पुलिसके एवं प्रान्तोंके खास अधिकारी और जनरलका खून किया गया, और दो चार बार असफल होनेके पश्चात् १८८१ में जार भी मार डाला गया।

रूसके इस क्रान्तिकारक पन्थके पुरोगामी सिद्धान्त अत्यन्त समाजघातक थे। इसलिये सरकारका उस ओर बिलकुल ध्यान न देना असम्भव था। इस पन्थको नष्ट करनेका केवल एक उपाय प्रजाको शासनके अधिकार देकर उसे क्रान्तिसे विमुख करना था। पर जारने ऐसा न करके दमननीति प्रारम्भ कर दी। जिसका फल यह हुआ कि लोगोंने प्रत्यक्षरूपसे कार्य करना बन्द करके गुप्तरूपसे कार्य्य करना प्रारम्भ किया जिससे बेचारे जारको खुद भी उनका शिकार बनना पड़ा। जारके खूनके पश्चात् जब नवीन जार सिंहासनारूढ़ हुआ तो क्रान्तिकारियोंने उसे एक पत्र लिखा, जिसमें लिखा था कि यदि लोक-निर्वाचित प्रतिनिधिसभा स्थापित कर उसे अधिकार दिये जायं तो सब षड्यन्त्र और अत्याचार बन्द कर दिये जायंगे। इससे स्पष्ट मालूम होता है

कि यद्यपि क्रान्तिकारियोंने परिस्थितिसे लाचार हो नृशंसता-पूर्ण कार्य किये थे, पर तोभी उनका उद्देश पवित्र था। उस खराब परिस्थितिके बदल जानेपर वे अपने मार्गको भी बदलनेके लिये तैयार थे।

पर सब व्यर्थ हुआ। तीसरे निकोलसने भी उसी प्रकार दमननीति प्रारंभ कर दी और सन् १९०३में ही १२००० लोगोंपर राज्यविद्रोहका अभियोग चलाया गया। इधर रूस-जापान-युद्धमें रूसकी पराजय हुई, जिससे सारा देश तूफानसे प्रताड़ित समुद्र-की तरह क्षुब्ध हो उठा और अन्तमें लाचार होकर १९०५ में जारको डूमा नामक प्रतिनिधिसभा स्थापित करनी पड़ी। लेकिन फिर भी इस सभाको शासनके हक बिलकुल नहीं दिये गये। केवल राज्यकार्यकी आलोचना करनेका हक उसे दिया गया। परन्तु उससे लोगोंका संतुष्ट होना असम्भव था। संसारव्यापी महासमरमें रूसकी सेना बड़ी अव्यवस्थित थी, जारकी कायरता और रूसकी पराजयने तो लोगोंका जारके प्रति जो कुछ भी प्रेम रह गया था, उसे भी नष्ट कर डाला। अन्तमें डूमाने २४ घन्टेके अन्दर जारको पदत्यागके लिये मजबूर किया। इसके पश्चात् डूमाने अपने निजका प्रधान मण्डल बनाया। परन्तु कुछ ही समयके पश्चात् शासनसत्ता दोनोंके हाथसे निकल गयी।

श्रमजीवियोंके नेता 'लेनिन' और "ट्रोव्हट्स्की" ने प्रधान-मण्डल और डूमाको अर्द्धचन्द्र देकर सब सत्ता अपने हाथमें ले

ली। इन लोगोंका पंथ "बोल्शेविज्म"के नामसे प्रसिद्ध है। संसारके सब देशोंकी सरकार बोल्शेविज्मसे छूतके रोगकी तरह डरती है। बोल्शेविज्मके सिद्धान्तोंका सच्चा वृत्तान्त अभी तक प्राप्त नहीं होता। अंग्रेजी समाचारपत्रोंमें जो कुछ भी समाचार निकलते हैं वे सब अतिशयोक्तिपूर्ण और अप्रामाणिक हैं। अतएव उनपर विश्वास करना उचित नहीं, तथापि कुछ विश्वसनीय ग्रन्थोंके आधारपर इसके विषयमें हम एक स्वतन्त्र परिच्छेद लिखनेका प्रयास करेंगे।

उपरोक्त विवेचनसे पाठकोंको मालूम हो गया होगा कि किस परिस्थितिमें अराजक पन्थ उत्पन्न होते हैं और किस कारण वे निहिलिस्टरूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। वास्तवमें दोनों मतोंमें मुख्य उद्देश और सिद्धान्त समान हैं, यदि भेद है तो साधनों और केवल उपायोंमें, और इस भेदका मुख्य कारण सामयिक परिस्थिति ही है। जब सब सौम्य उपायोंका अवलम्बन करना कठिन हो जाता है, खुले तौरसे आन्दोलन करना असंभव हो जाता है और न्यायसंगत उपायों द्वारा सुधार प्राप्त करनेका मार्ग बन्द हो जाता है, तब ज्वालामुखीके स्फोटकी तरह क्रान्तिका फूट निकलना अनिवार्य हो जाता है। रूसकी राज्यक्रान्ति इस बातका सच्चा और जीता जागता प्रमाण है।

बोलशेविक पन्थ।

वर्तमान शिक्षित समाजके अन्तर्गत बोल्शेविज्मके नामसे शायद ही कोई मनुष्य अपरिचित होगा। क्या अखबारोंमें, क्या

सभा सोसायटियोंमें, सभी जगह इसका कुछ न कुछ विवेचन होता ही रहता है। कोई समाचारपत्र इसकी चर्चासे खाली नहीं, कोई इसका विवेचन किसी तरह करता है तो कोई किसी तरह। लेकिन अधिकांश अंग्रेजी पत्र हर तरहकी लूट मार और अत्याचारादिको बोल्शेविज्मके नामसे सम्बोधन करते हैं। आधुनिक अंग्रेजी भाषामें बोल्शेविज्म शब्द ही राजद्रोह, देशद्रोह तथा अराजकताका समानार्थी हो गया है। अंग्रेजी अखबारोंको पढ़ते पढ़ते अन्तर्दृष्टिके अन्दर बोल्शेविज्मका जो चित्र खिंच जाता है वह बहुत ही भयानक होता है। इसकी निन्दा करते २ कई लेखकोंने अपनी लेखनियां तोड़ दीं। कोई इसे छूतकी बीमारीकी तरह बताकर इससे दूर रहनेका उपदेश देते हैं तो कोई इसे जादूगर बतलाकर इसके प्रपंचसे बचनेको सावधान करते हैं। परन्तु इसकी वास्तविकताका अभीतक कोई विश्वसनीय पता नहीं चला। यदि वास्तवमें बोल्शेविज्म अत्याचार और दुष्टतासे भरा हुआ है तो उसके प्रचारसे इतना डरना व्यर्थ है, क्योंकि अत्याचारका कोई भी समर्थन नहीं करता। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि या तो बोल्शेविज्मसे इतना डरना व्यर्थ है, या इन समाचारोंके अन्दर कोई रहस्य है। इनके अन्दरकी लिखी हुई बातोंकी इमारत कल्पनाकी नींवपर खड़ी की गयी है। जो हो यह बात तो निर्विवाद सत्य है कि नवम्बर १९१७ से अबतक रूसके शासनकी बागडोर बोल्शेविज्मके ही हाथमें स्थित है। जिस समय देशमें चारों ओर अशान्तिके बादल मंडरा रहे थे, जिस समय

शत्रुसेना मैदानमें तलवार लिये युद्धके लिये उपस्थित थी, जिस समय अकालके मारे देशमें लूटमार मच रही थी, जिस समय कमजोर प्रजा बुरी तरह पिसी जा रही थी, जिस समय "जिस-की लाठी उसकी भैंस" (The might is right) वाली कहा-वत चरितार्थ हो रही थी और जिस समय सारी सेना हतवीर्य्य हो गयी थी, ऐसे संकटके समयमें बोल्शेविक नेताओंने रूसका राज्य अपने हाथमें लिया और यूडेनिच, डेर्नकिन, रैंगल आदि अन्तरस्थ शत्रुओंको पराजितकर मित्रराष्ट्रके समान बलवान शत्रुओंकी भी देशमें दाल न गलने दी। इसके पश्चात् उन्होंने जनतामें नवजीवनका संचार किया, उचित व्यवस्था निर्माण की, शान्तिकी स्थापना की, कारखानोंको चलाये और राज्य-कारो-बारको उचित रूप दिया। इसके अतिरिक्त अपने सिद्धान्तोंको कार्यरूपमें परिणत किया। वहांकी आधुनिक शान्ति और सुव्यवस्थाका लोहा मानते हुए शत्रु भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि वहांकी राज्यव्यवस्था सुचारुरूपसे चल रही है। इससे साफ मालूम होता है कि रूसी जनता बोल्शेविज्मको हृदयसे चाहती है, वह उसका सच्चे दिलसे अभिनन्दन करती है। इसका कारण यह है कि यह मत अपने अनुयायियोंमें उत्साह और कर्त्तव्य परायणता भरनेका विलक्षण सामर्थ्य रखता है। ऐसी हालतमें कैसे कहा जा सकता है कि बोल्शेविक लोग दुष्ट, दुराचारी एवं त्याज्य होते हैं। किसी भी मतका अधिक प्रचार या उसमें अद्भुत प्रेरणाशक्ति तभी हो सकती है जब कि

उसमें प्रामाणिकता, चिरकालीन सत्यता, और परिस्थितिकी अनुरूपता काफी अंशमें हो, और उस अंशको जाननेके लिये उसके अनुयायियों और प्रवर्तकोंकी दृष्टिसे उसपर विचार करना चाहिये। केवल द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर छिद्रान्वेषणके द्वारा उसे जान लेना सम्भव नहीं। उसके लिये पक्षपातहीन एवं सत्य जिज्ञासासे प्राप्त होनेवाली अनुकूल मनोवृत्तिकी आवश्यकता है।

इसी उद्देशसे प्रेरित होकर पक्षपातहीन बुद्धिसे हम इस-पर विचार करेंगे। समाचारपत्रोंके अतिशयोक्तिपूर्ण लेखों एवं स्वार्थांध लेखकोंके द्वेषबुद्धिसे प्रेरित होकर लिखे गये ग्रन्थोंपर ध्यान न देकर हम प्रसिद्ध बोल्शेविक नेता लेनिन, और बोल्शे-विक सरकारके द्वारा प्रकाशित लेखोंके आधारपर कुछ लिखनेका प्रयत्न करेंगे। इस परिच्छेदमें केवल सैद्धान्तिक दृष्टिसे ही विचार किया जायगा। साम्यवादी सरकार इन कुछ वर्षोंमें बहुत समयतक स्थापित रही है। अतएव इस समय सारे संसारकी दृष्टि इस बातपर लगी हुई है कि इन तत्वोंको व्यवहारकी कसौटीपर परखनेके लिये जो यह उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है, बोल्शेविक सरकार उसका किस तरह उपयोग करती है। यह भी साफ जाहिर है कि साम्यवादकी भावी स्थिति इसी अवसरके उपयोगपर अवलम्बित है। इस दृष्टिसे बोल्शेविक सरकारकी राज्यपद्धति और रूसमें उनके द्वारा की गयी राजकीय, सामाजिक और आर्थिक क्रांति संसारके इतिहासमें अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

मार्क्सका सिद्धान्त है कि समाजकी मनःस्थिति, कानून, धर्म और राज्यपद्धति साम्पत्तिक कारणोंपर अवलम्बित है। मार्क्सके 'दास केपिटल' (Das Capital) ग्रन्थको हम यदि गीताकी उपमा दें तो अनुचित न होगा। यह ग्रन्थ साम्यवादका प्रमाणभूत ग्रन्थ है। जिस प्रकार गीताके द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अर्थ लगाते हैं और जिस प्रकार कुछ लोग उसके कर्ममार्गको, कुछ उसके ज्ञानमार्गको और कुछ भक्तिमार्गको प्रधानता देते हैं, उसी प्रकार मार्क्सके अनुयायी भी उसके ग्रंथके भिन्न २ प्रकारसे अर्थ करते हैं। अपनी २ राष्ट्रीय परिस्थितिके अनुसार भिन्न २ देश उसके भिन्न २ अर्थ लगा देते हैं। जर्मनीके बर्न स्टेन पक्षके सुधारक (Reversionist) फ्रांसमें सारेलके मतानुयायी संघवादी, अमेरिकाके संसारके, औद्योगिक श्रमजीवी और रूसके बोल्शेविक आदि सभी यद्यपि अपनेको मार्क्सके अनुयायी मानते हैं और उसके अवतरण देकर अपने मतोंकी पुष्टि करते हैं पर उनके पारस्परिक मतोंमें कई जगह विरोध होता है। मार्क्सके पश्चात् जर्मनीका औद्योगिक सितारा खूब चमका और वहांके श्रमजीवियोंकी भी दशा सुधर गयी। यही कारण है कि बर्न स्टेनके मतमें बहुत कुछ सौम्यता है, उसके मतमें मार्क्सके मतकी तीव्रता एवं धनियोंके प्रति द्वेषभाव नहीं पाया जाता। मार्क्सके सिद्धान्तका मूलमन्त्र "क्रान्ति" था, किन्तु बर्न स्टेनने अपने ग्रंथका नाम उत्क्रान्तिपर समाजसत्तावाद (Evolutionnary Socialism) रक्खा है। बर्न स्टेनका कथन है कि

साम्यवादियोंको उदारमतवादियोंसे किसी प्रकारका द्वेष न रख अपना कार्य करना चाहिये। मार्क्सके कथनानुसार श्रमजीवियोंका कोई स्वदेश नहीं, पर बर्न स्टेनके मतानुसार श्रमजीवियोंको नागरिक अधिकार प्राप्त हैं, इसलिये वह उनका स्वदेश है, और उसके प्रति गर्व और अनुराग रखना भी उनका कर्तव्य है। इन दोनों सिद्धान्तोंमें इतना विरोध होनेपर भी बर्न स्टेनको मार्क्सका अनुयायी कहनेमें कोई बाधा न होगी।

सारेलने मार्क्सके "वर्ग-कलह" सिद्धान्तपर अधिक जोर दिया है। मार्क्सके अन्य सिद्धान्तोंको उसने गौणरूपसे माना है। वह मार्क्सके सब सिद्धान्तोंमें केवल वर्ग-कलहको ही सर्वोच्च आसन देता है। इसी वर्ग-कलहको नाश करनेके लिये मार्क्सने जो सिद्धान्त बतलाये हैं, वे सब गौण हैं। इसलिये सारेलने अपना स्वकीय "सार्वत्रिक हड़ताल" नामक सिद्धान्त बनाया है। इसका भी कारण वहांकी सामयिक परिस्थिति ही है। फ्रांसमें पार्लमेंट द्वारा आन्दोलन करनेका फल बहुत ही असन्तोषजनक रहा था, इसलिये वहांके श्रमजीवी राजकीय आन्दोलनसे सफलता प्राप्तिके लिये बिलकुल निराश हो गये हैं। इसके अतिरिक्त वहांकी औद्योगिक उन्नति इतनी पराकाष्ठापर पहुंच गयी है कि वहां सार्वत्रिक हड़ताल आदि उपायोंका अवलम्बन लेना बिलकुल सहज हो गया है।

लेकिन रूसकी सामयिक परिस्थिति वहांपर उपरोक्त उपायों-का अवलम्बन करनेमें बाधक होती थी क्योंकि न तो वहां औद्यो-

गिक श्रमजीवियोंकी संख्या ही अधिक थी, न उनका सङ्गठन ही दृढ़ था, और न कारखानोंकी स्थिति ही ऐसी थी, जिससे वहां इन उपायोंका सहारा लिया जाय। इससे वहांपर संघवादकी जड़ जमना कठिन था। इसके अतिरिक्त वहांपर जारशाहीका शासन इतना कठोर और दीर्घकालव्यापी था कि उसके विरुद्ध कोई भी आन्दोलन शस्त्रकी सहायता और गुप्तरीतिसे किये बिना सफल नहीं हो सकता था। 'क्रमशः' 'धीरे धीरे' इत्यादि शब्द वहांके शब्दकोषसे निकाल दिये गये थे। उस समय तो वहां केवल "एक घाव और दो टुकड़े" के सिद्धान्तका ही आधार रह गया था। न्यायसङ्गत उपायों द्वारा किसी भी इष्टसिद्धिकी प्राप्तिका प्रयत्न करना बिलकुल असंभव हो गया था। ऐसी परिस्थितिमें रूसके लोगोंको मार्क्सके "वर्ग-कलह" और "सशस्त्र क्रांति" सिद्धान्त ही पसन्द आये। बोल्शेविक लोगोंने इन्हीं सिद्धान्तोंकी नींवपर अपने पन्थकी इमारत खड़ी की।

लेनिनने "दी स्टेट एन्ड रिवोल्यूशन" नामक ग्रन्थके ८४ वें पृष्ठमें लिखा है कि "बोल्शेविज़्म" शब्द रूसी भाषाके 'Bolshivstvo शब्दसे निकला है, जिसका अर्थ मताधिक्य होता है। सन् १९०३ में ब्रूसेल्समें रूसके साम्यवादियोंकी एक परिषद् हुई, जिसमें अन्तर्व्यवस्था सम्बन्धी मतभेदोंके कारण कई पक्ष हो गये थे। उसमें लेनिनके पक्षपातियोंकी संख्या सबसे अधिक थी। इसीसे इस पक्षको "बोल्शेविक" संज्ञा दी गयी, और वही नाम अभीतक प्रचलित है।

बोल्शेविक शब्दको बोलते ही मानसिक कल्पना अन्तश्च-क्षुओंके सम्मुख लेनिनकी तेजोमयी मूर्तिका निर्माण कर देती है। यदि कोई इसका कारण पूछे तो उसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि लेनिन बोल्शेविज्ममय और बोल्शेविज्म लेनिन-मय है। लेनिन ही इस मतकी आंखोंकी ज्योति और हृदयका प्राण है। वही इसका कर्ताधर्ता और विधाता है। उसीकी कर्तृत्वशक्ति और साहसके कारण इस मतका प्रचार हुआ, और उसीके नेतृत्वमें वह अधिकारारूढ़ भी हुआ। आज भी इस मतका सामर्थ्य और स्फूर्ति लेनिनपर ही निर्भर है। ट्राट्स्की, जीनाफ़ीफ़ आदि अन्य लोग भी इस मतके नेता हैं, पर वे केवल लेनिनके सहायकमात्र हैं।

लेनिनका असली नाम ब्लाडिमिर यूलेनाफ है। रूसमें जार-शाहीके विरुद्ध आन्दोलन उपस्थित करनेके लिये, वहांके प्रजा-पक्षके लेखकोंको अपनी रक्षाके लिये भिन्न २ उपनाम रखने पड़ते थे। उसीके अनुसार यूलेनाफने भी अपना उपनाम "निकोलाय लेनिन" रक्खा है। वही नाम अब संसारमें प्रचलित हो गया है। लेनिनका जन्म सन् १८७० में हुआ। उसका पिता रूसी विद्या-विभागमें एक अधिकारी था। उसने बचपनमें लेनिनको उत्तम शिक्षा दी थी। तत्कालीन अन्य रूसी युवकोंके समान लेनिन भी युवावस्थाहीसे स्वतन्त्रतादेवीका उपासक बन गया। उसने उसी समयसे स्वार्थत्यागके राज्यमें प्रवेश किया। जब वह कालेजमें पढ़ता था, उसी समय उसके ज्येष्ठ भ्राताको

फाँसीकी सजा दी गयी थी। उसकी स्त्री भी एक बार देशसे निर्वासित हो चुकी थी और वह स्वयं भी कैद कर लिया गया था। पर उसके विरुद्ध प्रमाण न मिलनेसे वह छोड़ दिया गया। तोभी उसे युनिवर्सिटीमें पुनः स्थान नहीं मिला। इसके पश्चात् भी कई बार उसे देशनिर्वासनका दण्ड मिला, और कुछ समयतक वह साइबेरियामें भी कैद रक्खा गया, पर वह माताका दुलारा लाल अपने उद्देशसे तनिक भी विचलित न हुआ। क्या स्वदेशमें और क्या विदेशमें हर समय वह अपने मतका प्रचार करनेमें प्रयत्नशील रहा।

लेनिन अपनेको मार्क्सका अनुयायी मानता है। उसका कथन है कि मेरे मतमें कुछ भी नवीनता नहीं। मैं तो केवल मार्क्सके बताये पथका पथिक हूं। बहुतसे अन्य साम्यवादी भी मार्क्सके अनुयायी होनेका दावा रखते हैं, लेकिन या तो वे मार्क्सके सिद्धांतोंको समझ ही न सके हैं, या जानबूझकर, स्वार्थवश हो,उसके सिद्धांतोंका मनमाना अर्थ लगाते हैं। अन्यथा मार्क्सके ग्रन्थोंका निष्पक्षपात या सत्य जिज्ञासासे अध्ययन करनेवाले व्यक्तिका मत उसके मतोंसे कदापि भिन्न नहीं हो सकता। कहा जाता है कि लेनिनका "रूसमें धनियोंकी सत्ताका उत्कर्ष" (The Development of capitalism in Russia) नामक ग्रन्थ रूसमें बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु यहां तो उसका केवल "सरकार और क्रान्ति" (The State and the Revolution) नामक ग्रन्थ ही प्राप्य है। उसमें

उसने मार्क्स और पेंजिलके अवतरण देकर अपने मतके कार्यक्रमका समर्थन किया है। "नामूलं लिख्यते किंचित्" के प्रतिज्ञानुसार इस पुस्तकमें भी मार्क्सके आधारके विना किसीने भी विरोध या प्रतिपादन नहीं किया है।

यह ग्रन्थ अपूर्ण है। सन् १९१७ के अगस्तमें अर्थात् बोल्शेविक क्रांतिके तीन मास पूर्व इस पुस्तककी भूमिका लिखी गयी है, जिसमें मार्क्सके मतोंपर पड़ा हुआ भ्रमजाल दूर किया गया है। इसके आगेके भागमें लेखकका विचार १९०५ की क्रांति और १९१७ की जारशाहीके उच्छेदपर मीमांसा करनेका था, लेकिन क्रांति प्रारम्भ हो जानेके कारण लेनिनपर उससे भी अधिक महत्वका कार्य राज्यशासनकी व्यवस्थाका आ पड़ा, जिससे यह ग्रन्थ अपूर्ण ही रह गया। तारीख ३० नवम्बरको लेनिनने उक्त पुस्तकमें यह अंतिम वाक्य लिखा है—

"It is more pleasant and more useful to live through the experience of revolution than to write about it."

इस ग्रंथको पढ़नेसे लेनिनके मतका वास्तविक स्वरूप मालूम हो जाता है। अतएव हम उसका सारांश कुछ शब्दोंमें नीचे लिख देते हैं—

"सरकार"की उत्पत्ति क्यों हुई? इस विषयपर प्रकाश डालते हुए लेनिन कहता है कि जब समाजमें भिन्न२ दो पक्ष हो जाते हैं और उन दोनोंके हितोंमें जब विरोध पैदा हो जाता है, तब उनके

अन्दर एक भयङ्कर कलह उत्पन्न हो जाता है। इसी कलहको मिटाकर उनमें मेल उत्पन्न करनेके लिये सरकार नामक संज्ञाकी उत्पत्ति हुई है। उन दोनों वर्गों एवं स्वयं समाजका नाश न होने पावे इसीलिये समाज स्वयं इस संस्थाका निर्माण करता है। अतएव उसका मुख्य उद्देश ही दोनों दलोंको अपने अधीन रख शांति बनाये रखनेका है।

यद्यपि सरकार प्रकटरूपसे दोनों दलोंसे भिन्न रहती है, पर वस्तुतः उसका मुख्य हेतु सद्यःस्थिति बनाये रखनेका है। अतएव वह उसी दलका पक्ष ग्रहण करती है जो बलवान होता है, और उन्हीं बलवानोंकी एवं अपनी रक्षाके लिये वह पुलिस, फौज, न्यायालय, कैदखाने आदि निर्माण करती है।

यदि उपरोक्त सिद्धांत ठीक है, यदि सरकार बलवानोंके अत्याचारोंको बनाये रखनेके लिये ही प्रकट हुई है, यदि निर्बलोंको पददलितकर स्वयं शक्तिमान बनना ही उसका उद्देश है तो उसका नाश करना जरूरी है और उसके नाश करनेका एक मात्र उपाय शस्त्र ग्रहण करना ही है।

अतएव श्रमजीवियोंका कर्त्तव्य है कि सशस्त्र उपायोंके द्वारा धनवानोंकी सत्ता और उसके साथ ही आधुनिक सरकारको समूल नष्ट कर डालें। इसके सिवा न कोई अन्य मार्ग है और न कोई अन्य साधन।

इस प्रकार सरकारका नाश किये जानेके पश्चात् क्या किया जायेगा? इस प्रश्नके उत्तरमें लेनिनने.............................."

श्रमजीविदलकी अनियंत्रित सत्ताका विवेचन किया है। इस सिद्धांतपर विचार करनेके पूर्व लेनिनकी कल्पनाको जान लेना आवश्यक होगा। उसके मतसे इस दलमें उन्हीं मजदूरोंका समावेश होता है जो परिश्रम करके जीवन-निर्वाह करते हैं। उनका नहीं जो अपने नीच स्वार्थकी पूर्तिके लिये पूंजीपतियोंके सामने पूंछ हिलाते हैं। पूंजीपतियों और श्रमजीवियोंमें युद्ध हो रहा है, दोनोंकी सेनायें दोनों ओर खड़ी हैं, ऐसे कठिन समयमें जो श्रमजीवी तन मनसे अपने साथियोंका साथ देंगे वही वास्तविक और सच्चे मजदूर समझे जायँगे। वास्तवमें पेट्रोग्रेड, मास्को आदि बड़े २ नगरोंके मजदूर ही इस युद्धमें सम्मिलित हुए हैं। लेनिन इनको ही श्रमजीवी समझता है। ज्यों ज्यों दूसरे मजदूर भी अपनी परिस्थिति पहचानकर अपना हित समझने लगेंगे त्यों त्यों वे भी इस युद्धमें सम्मिलित समझे जायँगे।

आगे चलकर लेनिन कहता है कि धनियों एवं सरकारकी सत्ताको नष्ट करनेके पश्चात् कुछ समयके लिये श्रमजीवियोंको अपनी निजकी सरकार बनानी होगी। श्रमजीवी सरकार भी समाजकी आदर्शअवस्था नहीं हो सकती पर आदर्श-मन्दिरमें पहुंचनेके लिये यह (श्रमजीवी सरकार) सीढ़ी रूप है।

यह सत्य है कि सरकारमात्र अत्याचार और बलात्कार करनेवाली संस्था है, और समाज सत्तावादी लेनिनका अन्तिम उद्देश बलात्कार और अत्याचारको बिलकुल नष्टकर स्वाधीनता स्थापित करनेका है; पर यह उद्देश एकदम सिद्ध

नहीं हो सकता। पूंजीपतियोंकी सत्ताका नाश करनेपर भी वैयक्तिक धनवानोंका विरोध शेष रह जायगा, जिसका विरोध सशस्त्रसेना द्वारा करनेमें भी वे न चूकेंगे। इस विरोधका पूर्ण रूपसे नाश करनेके लिये समाजके अन्य तटस्थ लोगोंको—कृषक, डाक्टर, इंजिनियर आदि ऊंचे दरजेके श्रमजीवियोंको—असली श्रमजीवियोंमें सम्मिलित करके नवीन समाजकी रचना करनी होगी। इसके लिये कुछ समयतक श्रमजीवी सरकारका स्थापित करना नितान्त आवश्यकीय है।

मार्क्सने अपने "The State that is the Protectorate organised as the ruling" नामक ग्रन्थमें श्रमजीवी सरकारका उल्लेख किया है। उसका कथन है कि यह सरकार असल मजदूरोंके संगठनसे बनायी जाय। लेंनिनपर कितने लोग यह आक्षेप करते हैं कि उसकी राज्यपद्धतिमें केवल शहरोंके औद्योगिक श्रमजीवियोंको ही अधिक मत मिलनेकी व्यवस्था की गयी है। लोकशाहीका नायक कहलाने वाले, सार्वजनिकमतकी घोषणा करने वाले इस नेताने अपने हाथमें राज्यसूत्र आते ही धनवानों और कारखाने वालोंका मताधिकार छीन लिया। परन्तु उनका यह आक्षेप असंगत है। लेनिन तो साफ कहता है कि 'सरकार' नामक संस्था एक दलका अधिकार दूसरे दलपर चलानेके लिये ही पैदा होती है। धनवानोंकी सत्ताको नष्ट करनेके लिये श्रमजीवी सरकार बनायी जाती है। इस सरकारको संगठित करनेके लिये अन्य लोगोंको अधिकार

देनेसे बड़ी हानि होगी। पूंजीपतियोंकी सरकार और मजदूरोंकी सरकारमें यही अन्तर है कि श्रमजीवी सरकारमें सब तरहके लोग सम्मिलित हो सकते हैं। यदि दूसरे लोगोंको भी श्रम-जीवियोंके सिद्धान्तोंकी उत्तमता मालूम हो गयी, उनकी नैस-र्गिकतापर उनका ध्यान आकृष्ट होगया, एवं उनके द्वारा की गयी समाजस्थापना उन्हें सुखप्रद मालूम हुई तो वे आपही उस जागृत श्रमजीवीदलमें सम्मिलित हो जायँगे। इस प्रकार जब सब लोग उसमें सम्मिलित हो जायँगे तब सारा समाज ही श्रमजीवीमय हो जायगा और वर्गभेद बन्द होकर वर्गकलह मिट जायगा। फिर तो सरकार आपही नष्ट हो जायगी। उसी तरह नष्ट हो जायगी जिस प्रकार पानीका आवागमन बन्द हो जानेसे नदीका पानी सूख जाता है। 'The authority of the Government over persons will be replaced by the administration of the things and the direction of the process of production.' आजकल समाजमें सरकारकी सत्ता व्यक्तिपर रहती है, पर भविष्यमें सरकारके जिम्मे सामा-जिक बातोंकी व्यवस्था और उत्पादनकार्योंके उपायोंकी देख-रेखका कार्य रहेगा।

लेकिन इच्छित अवस्था प्राप्त होने तक मध्यकी संक्रमणा-वस्थामें समाजके अन्दर अनियन्त्रित श्रमजीवी सरकारका होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह कि स्वाभिमानी युद्धप्रस्तुत श्रमजीवियोंके सिवा दूसरोंको सरकारके निर्वाचनका अधि-

कार न रहे, और उस सरकारको अपने विरुद्ध आचरण करने वालोंको शारीरिक दण्ड देनेका वेरोक अधिकार रहे। यह श्रमजीवी सरकार लुटेरे पूंजीपतियों और कारखानेवालोंको भांति २ के बन्धनोंसे जकड़ेगी, एवं उनके वाक् और व्यवहार-स्वातन्त्र्यको बिलकुल मर्यादित कर देगी। मजदूरोंकी वर्तमान दासताको नष्ट करनेके लिये ऐसा करना अनिवार्य हैं। सम्भव है प्रजासत्तात्मकवादी इसे देखकर भौंहें टेढ़ी करेंगे, पर उसके पहले उन्हें यह सोच लेना चाहिये कि आधुनिक प्रजातन्त्रवाद भी तो ऐसा ही है। उसमें भी तो आवश्यकता पड़नेपर अल्प-मतवाले बहुमतवालोंकी बातें माननेके लिये मजबूर किये जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रजासत्तात्मक सरकार भी बहु-मतकी सत्ता अल्पमतपर जबरन लादनेवाली सरकार है। फिर श्रमजीवी सरकार और प्रजातन्त्रवादमें क्या अन्तर है।

इस प्रकार समाजमें श्रमजीवीसरकार स्थापित होजानेपर उसे समाजकी पुनःरचनाका कार्य हाथमें लेना चाहिये। राज्य-व्यवस्थाके लिये लेनिनने पेरिसके कम्यूनको ही आदर्श माना है। सन् १८७०-७१ में फ्रेंच-जर्मन-युद्धके समय समाज-सत्ता-वादी दलने क्रान्ति करके इसे स्थापित किया था। यद्यपि इसका अस्तित्व बहुत कम समयतक रहा पर तोभी समाजसत्तावादि-योंकी राजव्यवस्थाकी प्रयोगदृष्टिसे वह बहुत महत्त्वकी है। मार्क्सने भी इसी दृष्टिसे उसकी मीमांसा की है। कम्यूनके इस प्रयोगसे यह बात सिद्ध हो गयी कि धनवानोंकी राज्य-पद्धतिको

बनाये रखनेसे कार्य-सिद्धि न होगी। श्रमजीवियोंके हाथमें सत्ता आते ही उन्हें चाहिये कि पुराने राज्यशकटको छिन्न भिन्न कर डालें। विध्वंस हो जानेपर रचनाका कार्य प्रारम्भ करना चाहिये। कम्यूनने प्राचीन सेना तोड़कर राष्ट्रीय सशस्त्र स्वयं-सेवकोंकी योजना की। कम्यूनके सूत्र एक कौंसिलके हाथमें दिये गये। इस कौंसिलमें पेरिसके भिन्न २ भागोंके निर्वाचित किये हुए प्रतिनिधि सम्मिलित थे जो कि अपने २ मतदाताओंके उत्तरदायी भी थे। सब संघोंको अपने अपने प्रतिनिधिके कार्य पसन्द न होनेपर उसके स्थानपर दूसरा प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार था।

मतलब यह कि कम्यूनने राज्यशकटका प्रत्येक घटक लोक-नियुक्त और समान वेतनभोगी बना दिया।

उपरोक्त (पेरिसके समान) व्यवस्था वह (कम्यून) फ्रांस देश-के प्रत्येक ग्राममें करना चाहती थी। वह प्रत्येक ग्राममें उसके पूर्णत: स्वायत्त लोकनियुक्त कौंसिल स्थापित किया चाहती थी। इसी कौंसिलको कम्यून नाम दिया गया था और इसी ग्राम्य कम्यूनके प्रतिनिधियोंका राष्ट्रीयमण्डल स्थापित करनेका विचार था।

लेनिनका कथन है कि मार्क्सके मतानुसार समाजका पूर्ण रूपान्तर एकदम नहीं हो सकता, उसके लिये कुछ समयकी आवश्यकता है। इस बीचके संक्रमणकालमें समाजकी व्यवस्था उसके अन्तिम स्वरूपसे बिलकुल भिन्न प्रकारकी रहेगी।

क्रान्तिके होते ही जमीन और कारखाने व्यक्तिगत अधिकारोंसे निकालकर राष्ट्रके अधिकारमें दे दिये जायंगे। उत्पादनके सब साधन राष्ट्रीय समझे जायंगे। समाजके प्रत्येक व्यक्तिको वही कार्य करना होगा जो समाजको उपयुक्त हो। प्रत्येक व्यक्तिको उसके कार्यके लिये प्रमाणपत्र दिया जायगा। उस प्रमाणपत्रको बतलानेपर उसमें लिखे हुए कार्यके परिमाणसे उसे सार्वजनिक भाण्डारसे आवश्यक सामग्री दी जायगी। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिको उसके कामके बदलेमें सार्वजनिक व्यवस्थाका अंश काटकर आवश्यक वस्तुएं मिला करेंगी।

इस व्यवस्थाके अन्तर्गत "जो कार्य करेगा उसीको खानेको मिलेगा" इस तत्वका प्रतिपादन किया जायगा। जिस परिमाणसे श्रम करेगा उसी परिमाणसे बदला मिला करेगा। जिससे उत्पादनकार्यमें समता स्थापित हो जायगी और समाजके अन्दर जो धनियोंकी लूट जारी है वह बन्द हो जायगी।

परन्तु यह वास्तविक समानता नहीं, न इससे समाजमें वास्तविक न्याय ही स्थापित होनेकी आशा है। क्योंकि समाजमें सब मनुष्य एकसे नहीं हो सकते। कोई अशक्त होता है तो कोई सशक्त, कोई विवाहित होता है तो कोई अविवाहित, कोई निपूता होता है तो कोई पांच पुत्रोंका पिता, कोई सुस्त होता है तो कोई चालाक। इस प्रकार समाजमें स्थान २ पर विषमता पायी जाती है। इसलिये यदि समाजमें श्रमके मानसे ही आवश्यक वस्तुएं दी जायंगी तो एकको तो उन्हें इकट्ठीकर रखनेको

स्थान भी न मिलेगा एवं दूसरेको जीवननिर्वाहके लिये भी पर्य्याप्त सामग्री न मिलेगी, जिससे समताके स्थानमें विषमता उत्पन्न हो जायगी। पर सब विषमता एवं अन्याय एकदम ही दूर नहीं हो सकते। संक्रमणकालमें पूंजीपतियोंकी सत्ताके जो थोड़े बहुत दोष रह जायंगे उनमेंसे यह श्रमानुसार बटवारेका एक है।

समाजकी इस संक्रमणावस्थामें सरकार अवश्य रहेगी। प्रारम्भमें धनिकोंका विरोध मिटानेके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। शनैः शनैः लोग बिना कहे ही कार्य करने लग जायंगे। वे श्रमानुसार बटवारेके अभ्यस्त हो जायंगे। अतएव इस बटवारेकी प्रथाको कार्यमें लानेके लिये भी सरकारकी आवश्यकता रहेगी।

जब लोग अपने इच्छानुसार कार्य करने लग जायंगे, धनियोंका नाश हो जायगा, समाजमें केवल मजदूरदल रह जायगा, तब समाज अपनी संक्रमणावस्थाका अन्तकर आदर्शस्थितिको प्राप्त हो जायगा। मार्क्सने बड़े ही अच्छे शब्दोंमें इस आदर्श स्थितिका वर्णन किया है।

"समाजकी सर्वोत्कृष्ट सामुदायिक (Communist) अवस्थामें श्रमविभागके तत्त्वोंके द्वारा प्राप्त हुई दासताका अन्त हो जायगा। बौद्धिक और शारीरिक कार्योंका आधुनिक विरोध नष्ट हो जायगा। श्रम केवल उदरपोषणकाही साधन न समझा जाकर आवश्यक भोग्यपदार्थका स्थान ग्रहण करेगा। मानव-

जातिकी साङ्गोपाङ्ग उन्नति हो जायगी। उत्पादक साधनोंकी कमी न रहेगी। समाजकी शक्तिके विकाससे सम्पत्तिका प्रवाह सतत रूपसे प्रवाहित होता रहेगा। समाजको जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जायगी तभी पूंजीपतिसत्ताके कानूनक्षेत्रसे परे दृष्टिपात करना सम्भव होगा। तभी समाजकी ध्वजाके ऊपर स्वर्णाक्षरोंसे लिखे हुए ये शब्द फड़कने लगेंगे—

"From each according to his ability to each according to his needs." "प्रत्येकसे उसकी शक्तिके अनुसार, प्रत्येकको उसकी आवश्यकतानुसार।"

मतलब यह कि प्रत्येक व्यक्तिसे शक्तिके अनुसार कार्य लिया जायगा और आवश्यकतानुसार सामान दिया जायगा।

इस अवस्थामें सरकारकी कोई आवश्यकता न रह जायगी। यह स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हितके तत्वोंसे परिचित होकर अपनी शक्तिके अनुसार कार्य करनेका अभ्यस्त हो जायगा, तो फिर किसी प्रकारके वाह्य नियंत्रण (सरकार) की आवश्यकता न रहेगी और जब सरकारकी कोई आवश्यकता ही न रहेगी तो फिर वह आपही आप कुम्हलाकर निर्जीव हो जायगी।

आधुनिक पूंजीपतियोंकी सत्ताके जमानेमें श्रम तो तराजूपर तौला जाता है, पर मजदूरी उसके अनुसार नहीं दी जाती। जहांतक हो सकता है कम देनेकी चेष्टा की जाती है। लेकिन जब उत्पादक साधन बढ़ जायंगे, माल अधिक पैदा होने लगेगा और प्रत्येक व्यक्ति जीतोड़ परिश्रम करने लगेगा,

तब श्रम तौलनेकी कोई आवश्यकता न रहेगी और न प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकतानुसार वस्तुएं देनेमें ही किसी प्रकारकी आपत्ति शेष रह जायगी।

मार्क्सने इस सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको सामुदायिक (Communistic) और इसके पूर्वकी संक्रमणावस्थाको सामाजिक (Socialistic) संज्ञा दी है, और इस अन्तिम सर्वोत्कृष्ट अवस्थाकी ओर लक्ष्य करके ही लेनिनने अपने पक्षका नाम.............. दिया है। यही लेनिनके मतका सार है। लेनिनके मुख्य सिद्धान्त उंगलियोंपर गिननेके योग्य और बहुतही स्पष्ट हैं। सन् १९१९ के मार्चमें मास्कोके अन्तर्गत कम्यूनिस्ट पक्षकी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् हुई थी, जिसमें लेनिनने अपनी मतपत्रिका पेश की थी। उसमें भी इस सिद्धान्तका स्वतंत्र विवेचन किया था और उसपर किये आक्षेपोंका योग्यतापूर्वक खण्डन किया था। आजकल लेनिनके सिद्धान्तोंपर भिन्न भिन्न लोगोंकी भिन्न २ राय है। कुछ इसे अच्छा बतलाते हैं कुछ बुरा। इसलिये हम पुनरुक्तिके दोषको स्वीकार करते हुए लेनिनके सिद्धान्तोंको उसकी मतपत्रिकाके अधारपर संक्षिप्त रुपमें नीचे देते हैं—

१—संसारमें वर्गकलह परस्पर बढ़ता जायगा। पूंजीपतियोंकी सत्ता और पूंज़ी बढ़ती चली जायगी, और समाजकी सब पूंजीको पूंजीपति चूस लेंगे, जिससे श्रमजीवियोंकी स्थिति और भी दिन दिन बिगड़ती जायगी, एवं पूंजीपतियों और मजदूरोंका पारस्परिक कलह भयंकरता धारण करेगा।

२—श्रमजीवी केवल एक ही उपायका अवलम्बनकर इससे छुटकारा पा सकते हैं, वह है केवल सशस्त्र क्रान्ति। संसारके इतिहासमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं जिसमें बलवानोंके अत्याचार बिना शस्त्र ग्रहण किये दूर किये गये हों। बिना अस्त्रशस्त्रके अवलम्बन किये स्वतन्त्र या दुखमुक्त होना संभव नहीं। श्रमजीवियोंके आत्मोद्धारके प्रयत्नका पूंजीपतियोंने घोर विरोध किया है और कभी कभी तो उसे दबानेके लिये उन्होंने अपनी शक्तिके बाहर व्यय किया है। अतएव श्रमजीवियोंको सशस्त्र क्रान्ति और शारीरिक बलके द्वारा ही अपना उद्धार करना होगा।

३—इस क्रान्तिमें पूंजीवालोंकी सत्ताको नष्ट करके श्रमजीवियोंको अपनी निजकी अनियंत्रित सरकार स्थापित करनी होगी। पूंजीपतियोंकी सत्ता नष्ट हो जानेपर श्रमजीवियोंको अपनी अनियंत्रित सरकार स्थापित करनी अनिवार्य होगी।

४—इस पद्धतिमें उत्पादनके साधन, जमीन और कारखाने राष्ट्रीय स्वामित्वमें आ जायंगे। समाजके किसी भी व्यक्तिको बिना परिश्रम किये खानेको न दिया जायगा। प्रत्येकको उसके श्रमके परिमाणके अनुसार ही उपभोग सामग्री प्राप्त होगी। हां, प्रत्येक मनुष्यको उसके श्रमका पूर्णरूपसे बदला मिले इस ओर विशेष ध्यान दिया जायगा।

इस नवीन पद्धतिमें पूंजीपतियोंके वर्ग और उनके सहायकोंको मताधिकार बिलकुल नहीं दिया जायगा। उनके

भाषण, लेखन एवं आचरण-स्वातन्त्र्यपर नियंत्रण लगाया जायगा।

इस पद्धतिके अनुसार स्वाभिमानी मजदूरोंको ही अपनी सरकारके निर्वाचनका अधिकार रहेगा। प्रत्येक ग्रामकी निर्वाचित स्वायत्त सभायें सरकारके उपकरणमात्र रहेंगी। पूंजीपतियोंके विरोधको नष्ट करने, बेकार लोगोंके निर्वाहका इन्तजाम करने और श्रमानुसार बटवारा करनेके लिये सरकारसत्ता अनियन्त्रित रहेगी।

५—यह सरकार तभीतक रहेगी जबतक लोग नवीन समाजरचनासे अभ्यस्त न हो जायं। जब नवीन समाजके विरोधियोंका अस्तित्व भङ्ग होकर प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी इच्छासे श्रम करनेको तैयार हो जायगा, और जब किसीकी निजी मिल्कियत न रह जायगी, तब आप ही आप इस सरकारका अस्तित्व भङ्ग हो जायगा, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी शक्तिके अनुसार कार्य करने लग जायगा एवं उत्पन्न हुए मालसे अपना आवश्यक सामान लेता रहेगा।

जबतक बोल्शेविक लोगोंके कार्यपर पूर्णरूपसे विचार न कर लिया जाय, तबतक यह मत विवेचनपूर्ण नहीं माना जा सकता। यह कार्यक्रम मास्कोकी परिषद्‌की विज्ञप्तिमें दिया गया है, जिससे यह विशेष महत्त्वका है। इसपर लेनिन, ट्राट्स्की, जिनोवाफ आदि रूसी, बोल्शेविक नेताओंके हस्ताक्षर ता हैं ही, पर उसके सिवा एक स्विस और एक बोल्शेविक

नेताने भी उसपर हस्ताक्षर किये हैं। यह कार्यक्रम व्यावहारिक दृष्टिसे भी बड़े महत्त्वका है। कितने दिनोंके (करीब १-१। वर्षके) अनुभवके पश्चात् यह निश्चित किया गया है।

उपरोक्त विज्ञप्ति संसारके सब राष्ट्रोंके नामसे लिखी गयी है। उसके प्रारम्भमें ही लिखा गया है कि—

"We communists representatives of the revolutionary protectorate of the different countries of Europe, America and Asia assembled in Soviet Moscow feel and consider ourselves followers and fulfillers of thc programme proclaimed seventy two years ago."

जिस प्रकार नाटकके प्रारम्भमें सूत्रधार कुछ शब्दोंमें ही सारे नाटकका सारांश प्रगट कर देता है, उसी प्रकार ये वाक्य उपरोक्त विज्ञप्तिके सारको थोड़े ही शब्दोंमें व्यक्त कर रहे हैं। "हम यूरोप, एशिया, अमेरिका आदि भिन्न २ देशीय श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि हैं। अतः उनका हित हमेशा हमारी आंखोंके सम्मुख नाचा करता है।" यह बात कहनेके पश्चात् "Communist" शब्दसे अन्तिम ध्येय और "Revolutionary" शब्द (विशेषण) से मार्ग सूचित किया गया है। "Fulfillers" शब्दके अन्दर दृढ़ आत्मविश्वास झलक रहा है। "Programme proclaimed seventy two years ago" शब्दोंसे यह प्रतिपादित किया गया है कि यह मत नवीन नहीं है। इस मतकी नींव

बहत्तर वर्ष पूर्व ही मार्क्सने डाल दी है। इस प्रकार थोड़ेसे वाक्योंमें ही कार्यक्रमका सामान्य स्वरूप ध्वनित कर दिया है।

इस विज्ञप्तिके प्रारम्भमें उन्होंने अपने मत और सिद्धान्तका दिग्दर्शन कराया है। प्रारम्भमें गत महायुद्धकी मीमांसा करके उसका परिणाम दिखलाते हुए कहा है कि समाज सत्तावादने इस युद्धका भविष्य कई वर्ष पहले ही कह दिया था। यह युद्ध पूंजीपतियोंके सतत लोभका अनिवार्य परिणाम है। यूरोपीय पूंजीपतियोंकी सत्ताने सारे संसारको अपने जालमें फंसा रक्खा है। अतएव उस जालका विच्छेद हुए बिना दूसरे देशोंको उससे छुटकारा मिल नहीं सकता। कम्यूनिस्ट पक्ष उस जालका विनाश करनेमें सतत प्रयत्न कर रहा है। जिस दिन यूरोपमें श्रमजीवियोंकी प्रतिबंधविहीन सत्ता स्थापित हो जायगी उसी दिन सारे उपनिवेश दासताके कठिन बन्धनसे मुक्त हो जायंगे। उसी दिन स्वाधीनतादेवीके मन्दिरका वज्रकपाट सहसा खुल पड़ेगा। उसी दिन प्रत्येक मनुष्य उस मन्दिरमें प्रविष्ट होकर स्वाधीनताका घंटा बजाकर सारे संसारको निनादित करेगा। "Colonial Slaves of Africa and Asia! the hour of proletarians Dictatorship in Europe will also be the hour of your liberation." यही आश्वासन इस विज्ञप्तिके द्वारा संसारके सब उपनिवेशोंको दिया गया है। इसी महायुद्धके प्रतापसे दीनता और अकालोंने यूरोपकी ओर मुंह फाड़ रक्खा है। उपनिवेशोंमें भी हाहाकार मच गया

है और सबसे अधिक महत्त्वकी बात तो यह हुई कि संसारके आर्थिक सूत्र सैनिकसत्ताके हाथमें दे दिये गये हैं। अब उद्धारका एक उपाय क्रान्ति ही रह गया है और इस उपायका अवलम्बन करनेके लिये यह अवसर बहुत ही उत्तम है।

इस क्रान्तिमें प्रवृत्त होनेके लिये कम्यूनिस्ट श्रमजीवी ही अधिक उपयुक्त हैं। इस क्रान्तिके पश्चात् नवीन युगके अनुसार नवीन शासनपद्धति प्रचारित की जायगी।

इस क्रांतिके कारण राष्ट्रोंमें महाभारत छिड़े बिना न रहेगा। पूंजीपति और श्रमजीवी, कृषक और जमींदार, सिपाही और अफिसर आपसमें लड़ेंगे। निजकी रक्षा और भावी समाजरचना-के लिये पूंजीपतियोंको निःशस्त्रकर श्रमजीवियोंको सशस्त्र करनेकी आवश्यकता होगी। यही स्वतंत्रताप्राप्तिका वास्तविक युद्ध होगा।

श्रमजीवियोंको यह आंदोलन सारे संसारमें फैला देना होगा। सब राष्ट्रके श्रमजीवी एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित करें। पूंजी-पतियोंसे होनेवाले भावी युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये नरम और शत्रुसे समझौता करनेवाले दलका नाश करना होगा। इसके लिये कम्यूनिस्ट श्रमजीवियोंका अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित करना आवश्यक है। Under the standard of the workmen's councils under the banner of the third International in the revolutionary struggle for power and the Dictatorship of Proletariot prole-

tarian of all Countries—unite! मार्क्सकी विज्ञप्तिके अनुसार इसमें भी ठीक उपदेश दिया गया है कि—एक होवो, संगठन करो।

कहना नहीं होगा कि लेनिन और उसकी सरकार इस उपदेशको अत्यंत उत्साहके साथ पालन कर रही है।

इसके पश्चात् इस पक्षका कार्य्यक्रम लिखा गया है। (१) पूंजीपतियोंका सर्वस्व नष्ट कर दिया जाय। (२) युद्ध असम्भव कर दिये जायं। (३) भांति भांतिके राष्ट्रोंकी मर्यादा तोड़ दी जाय। (४) सारे संसारका एक संयुक्त राष्ट्र बनाया जाय। इस प्रकार सारी मानव-जातिमें बन्धुत्व भाव जागृत कर दिया जाय। इन उद्देशोंकी पूर्तिके लिये सबसे पहले राज्यसत्ताका हाथमें लेना आवश्यक है। राज्यसत्ता हाथमें आनेपर प्राचीन राज्यपद्धतिको तोड़कर ग्राम २ में श्रमजीवियोंके द्वारा नियुक्त सोविएट बनाये जायं। उन सोविएटोंमें औद्योगिक श्रमजीवियोंको अधिम हक्क और रियायतें प्रदान की जायं क्योंकि यही दल सब श्रमजीवियोंमें अधिक सुसंगठित, स्वाभिमानी और क्रांति करनेमें अग्रसर रहता है। उसीके नेतृत्वमें अन्य तटस्थ श्रमजीवी और छोटे २ किसान इस स्वाधीनताके युद्धमें प्रवृत होंगे।

औद्योगिक सम्बन्धमें नूतन श्रमजीवी सरकारको सब बैंकों-पर अधिकार कर लेना चाहिये। ट्रस्ट और सिंडिकेटके स्वरूपमें सब औद्योगिक कारखानोंपर सरकारकी सत्ता रहे और कृषिके

योग्य बड़े २ खेत सरकारके स्वामित्वमें रखकर उनमें सहयोगी संस्थाके द्वारा कृषि करवायी जाय। पर यह बात ध्यानमें रखने- की है कि छोटे २ खातेवालोंकी जमीन न छीनी जाय। उसी प्रकार जो लोग मजदूरोंसे श्रम करवाकर उनके नफेको न लूटते हों उनकी मिल्कियत भी जप्त न की जाय। दूसरोंका आदर्श सम्मुख रख नवीन समाजरचना की जाय। राष्ट्रीय कर्ज रद्द कर दिया जाय और खड़ी सेना तोड़कर उन लोगोंको श्रमजीवियोंमें मिलनेका अवसर दिया जाय।

कारखानोंकी व्यवस्थाके लिये श्रमजीवियोंके लोकनियुक्त बोर्ड स्थापित किये जायं।

नवीन शासनपद्धतिमें कुशल अनुभवी, और तत्त्वज्ञोंसे सहा- यता ली जाय। इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि ये लोग राजकीय दृष्टिसे प्रतिकूल न हों और नवीन औद्योगिक अवस्थामें तन मनसे सहायता करनेको तैयार हों। इस पद्धतिके अनुसार खानों, कारखानों और बड़ी २ स्टेटोंपर सरकारका अधिकार जमा लिया जाय। जमींदारों और कारखानोंके मालिकों तथा पूंजीपतियोंके महल सोवियट सरकारके सभागृह बना लिये जायं और गरीबोंको धनवानोंके महलोंमें रहनेकी आज्ञा दी जाय।

तैयार किये हुए मालकी व्यवस्था और बांट पुरानी सहकारी संस्थाओं और म्युनिसिपैलिटियोंकी सहायतासे की जाय।

ऊपर दो तीन स्थानोंपर सोवियट सरकारका नाम आया है, अतएव हमारा कर्त्तव्य होगा कि अब हम सोवियट और

श्रमजीवी सरकारकी रचनापर कुछ विचार करें। बोल्शेविक नेता जिनाफिफ़ने १९२० में एक हस्तलिखित पत्र प्रकाशित करवाया था, उसीके आधारपर हम इस विषयमें कुछ विवेचन करेंगे।

"सोविएट" सरकारका सबसे छोटा अंग है। प्रत्येक ग्रामके औद्योगिक श्रमजीवी व कृषकोंकी सभाको ही सोविएट संज्ञा दी गयी है। सोविएट दो प्रकारकी होती है—एक शहरकी सोविएट, एक गांवकी सोविएट। शहरकी सोविएटमें प्रत्येक कारखानेके संख्यानुसार प्रतिनिधि रहा करते हैं। श्रमजीवी संघके प्रतिनिधि भी शहरकी सोविएटमें बैठते हैं। सिपाहियोंके प्रतिनिधि पल्टनोंमेंसे लिये जाते हैं।

गांवकी सोविएटमें एक ही गांवके या कभी २ एकसे अधिक गांवोंके कृषक प्रतिनिधिरूपसे लिये जाते हैं।

सोविएटके निर्वाचनमें केवल कृषक और श्रमजीवियोंको ही मत देनेका अधिकार था। निम्नाङ्कित लोगोंको उसमें मत दान करनेका अधिकार न था—

(१) लाभके लिये रोजाना मजदूरीपर मजदूर लगानेवालेको।

(२) विना किसी तकलीफ़से प्राप्त हुई सम्पत्तिपर गुजर करनेवालेको।

(३) खानगी व्यापारियोंको।

(४) धर्मोपदेशकोंको।

(५) भूतपूर्व पुलिसको।

(६) पागल और अज्ञानियोंको।

(७) इन विशेष अपराधियोंको जिनका एक नियत समयके लिये मताधिकार छीन लिया गया है।

सोविएटको राष्ट्रीय ध्येयके अनुसार ग्रामकी व्यवस्था करनेका पूर्ण अधिकार है एवं नये कानून बनाकर उन्हें व्यवहृत करनेका अधिकार भी उनको प्राप्त है।

प्रति छः मासमें भिन्न भिन्न प्रान्तों और नगरोंकी सोविएट निखिल रशिया सोविएट परिषदके लिये प्रतिनिधि चुनकर भेजती है। यही परिषद देशकी मुख्य शासनसंस्था है। भविष्यके छः मासके लिये यह देशके राजनीतिक और दूसरे ध्येय निश्चित करती है, और उन्हें कार्य रूपमें परिणत करनेके लिये २०० मनुष्योंकी एक कमिटी नियुक्त करती है। इसी समय यह परिषद प्रधान मण्डल (Cabinet) भी स्थापित करती है। इस मण्डलको 'पीपल्स कमिसरीज' संज्ञा दी गयी है। इस मण्डलके प्रधानोंको राज्य कारोबारके भिन्न २ अङ्ग सौंप दिये जाते हैं।

मध्यवती कार्यकारिणी कमिटी अपने इच्छानुसार चाहे जब इन प्रतिनिधियोंको पदच्युत कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मतदाता संघको गांवपर सोविएटसे अपना प्रतिनिधि वापिस बुलानेका पूर्ण अधिकार है।

जिस प्रकार सोविएटके द्वारा राज्यव्यवस्था की गयी है उसी प्रकार औद्योगिक अवस्था भी राज्यसत्ताके तत्त्वोंपर की गयी है। रूसमें श्रमजीवियोंके संघ स्थापित किये गये हैं। प्रत्येक

संघमें एक कारखानेके तमाम श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि रहते हैं। उदाहरणार्थ किसी मिलको ही लीजिये। उसके संघमें उस मिलमें कार्य करनेवाले सुतार, लुहार आदि सभी श्रमजीवियोंके प्रतिनिधि रहेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक कारखानेका एक एक संघ बनाया जाता है और इन संघोंके सभासद अपनी अपनी कार्यकारिणी कमिटी निर्वाचित करते हैं।

रूसके अधिकांश महत्वपूर्ण कारखाने राष्ट्रीय कर लिये गये हैं। इन संघोंके अब कोई मालिक नहीं हैं। अब वे स्वयं प्रसन्नता-पूर्वक कारखाने चलानेमें सहायता देते हैं।

प्रतिवर्ष इस संघका सम्मिलन होता है। उस समय एक मध्यवर्ती कार्यकारिणी कमिटी और एक स्केल कमिटी निर्वाचित की जाती है। यह स्केल कमिटी भिन्न भिन्न प्रकारके मजदूरोंका वेतन निश्चित करती है।

सरकारके प्रधान मण्डलमें औद्योगिक विभागके प्रधानका निर्वाचन करते समय सब संघोंकी सम्मति लेना आवश्यक है। इस प्रधानकी सहायताके लिये एक लोकनियुक्त कौंसिल रहती है। इस कौंसिलको भिन्न २ भागोंमें विभक्तकर प्रत्येक भागके जिम्मे भिन्न २ औद्योगिक धंधोंका कार्य दे दिया जाता है। संघकी सलाहसे विज्ञ पुरुषोंको नियुक्तकर यह कौंसिल अपना कार्य करती है।

कारखानेके कार्यकी व्यवस्था तीन सभासदोंकी कमिटीके जिम्मे रहती है। कारखानेकी कार्यकारिणी कमिटी, मध्यवर्ती

कार्यकारिणी कमिटी और ऊपरकी कौंसिल इस कमिटीके लिये प्रतिनिधि चुन देती है।

इस प्रकार हम उपरोक्त पृष्ठोंमें बोल्शेविक सिद्धान्त, कार्यक्रम और उसके मुख्याङ्ग सोविएटका वर्णन कर चुके। दूसरे शब्दोंमें सशस्त्र क्रान्ति, श्रमजीवियोंकी अनियन्त्रित सत्ता और अन्तमें सामुदायिक समाज-व्यवस्था यही इस सिद्धान्तके तीन सूत्र हैं। स्वाधीनतादेवीके मन्दिरमें पहुंचनेके लिये बोल्शेविज्म इन्हीं तीनों सीढ़ियोंका निर्माण करता है। पहले सूत्रमें बोल्शेविक और संघवादमें मतभेद हो जाता है और दूसरे सूत्रमें अराजक पंथ उससे जुदा हो जाता है।

बोल्शेविकोंके 'श्रमजीवियोंकी अनियन्त्रित सत्ता' इस सिद्धान्तपर बहुत आक्षेप किया जाता है। पर आक्षेपकर्त्ताओंको यह याद रखना चाहिये कि यह सिद्धान्त नया नहीं, बोल्शेविक लोग इसे मार्क्सका सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त पहले भी काममें लाया गया है। १७८९ की राज्यक्रान्ति श्रमजीवियोंने नहीं, मध्यश्रेणीके लोगोंने की थी। उस समय भी क्रान्तिकारियोंने अपनी प्रतिबन्धविहीन सत्ता स्थापित की थी। तमाम क्रान्तिकारियोंको ऐसाही करना पड़ता है। सन् १८६९ में लुई ब्लैंकी नामक साम्यवादीने इन कारणोंकी मीमांसा करते हुए लिखा है कि "यदि क्रान्तिके पश्चात् ही निर्वाचन किया जायगा तो उसका दोमेंसे एक परिणाम अवश्य होगा। या तो बलात्कार अपने पक्षमें माताधिक्य प्राप्त करना होगा या पहली सत्ताको पुनः

स्थापित करना होगा। बलात्कार करनेसे यह सिद्ध हो जायगा कि हमारा पक्ष कमजोर था। पूर्वकालीन राज्यसत्ताके दबाव और दमननीतिके कारण लोगोंकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नष्ट हो गयी है। वे स्वतन्त्र मतदाता नहीं, प्रत्युत गुलाम रहते हैं। अतएव जबतक लोगोंके मनपरका दबाव हटकर उनमें इच्छा-स्वातन्त्र्य उत्पन्न न हो जाय तबतक उन्हें मतदानका अधिकार न देना चाहिये। इस विषयसे अलिप्त रहनेहीमें उनका भला है। नहीं तो संभव है कि वे फिर कहीं अपने आपको उन बन्धनोंसे जकड़ न लें।"

कहनेका मतलब यह है कि बोल्शेविक मत बहुत प्राचीन है, और भविष्यमें भी जहां जहां क्रान्ति होगी बहुत करके वहां इसीका अवलम्बन करना पड़ेगा। इसका प्रमाण इतिहासके कुछ पृष्ठ उलटनेपर आप ही मिल जायगा।

दूसरा आक्षेप बोल्शेविक सरकारपर यह है कि वह अपने विरुद्ध पक्षके सामयिक पत्रोंको प्रकाशित नहीं होने देती। इस आक्षेपका उत्तर देना भी कोई कठिन नहीं। युद्धकालमें सभी राष्ट्रोंने अखबारोंपर बड़ा प्रतिबन्ध लगाया था। बोल्शेविक सरकारने भी इन्हींका अनुकरण किया, क्योंकि वह भी पूंजीपतियोंसे लड़ रही थी। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य देशोंमें नुकसान सहनेकी हैसियत हुए बिना पत्र निकालना असंभव सा है,: और यही कारण है कि प्रकाशक या संचालकके पास अधिक पूंजीका होना आवश्यक है, और बोल्शेविक

सरकार अधिक पूंजीवालोंके समाचारपत्रोंको बन्द करना चाहती है।

इससे सिद्ध हुआ कि बोल्शेविक सरकारपर जो दोष लगाये जाते हैं, वे निमूर्ल नहीं तो अधिकांशमें असत्य अवश्य हैं।

नागरिकता और राष्ट्रीयता।

जिन लोगोंसे राज्यरूपी शरीर सङ्गठित होता है उनके दो विभाग किये जाते हैं; (१) नागरिक, (२) विदेशी। महात्मा अरस्तूके कथनानुसार नागरिक वे हैं जिनका राज्यके शासनमें हिस्सा है। महापति वेटल (Vattel) का कथन है कि नागरिक सभ्य समाजके वे सदस्य हैं जो कुछ कर्त्तव्योंके द्वारा समाजसे बद्ध हैं, जो राज्यकी हुकूमतके पाबन्द हैं और राज्य-शासनमें जिनकी आवाज है। एक मुकद्मेमें अमेरिकाकी सुप्रीम-कोर्टने नागरिकोंकी व्याख्या करते हुए लिखा था "नागरिक वे हैं जो उस राज्यके सदस्य हैं, जिसमें वे रहते हैं। उन्हींसे राज्य संगठित होता है। सर्वसाधारणके हितके लिये वैयक्तिक या सबोंकी सामुदायिक रक्षाके लिये वे राज्यके हिस्सेदार होते हुए उसकी हुकूमतके पाबन्द रहते हैं।

नागरिक और निर्वाचक।

कई लोग समझते हैं कि नागरिक और निर्वाचक पर्याय-वाची शब्द हैं, दोनों एक ही हैं; पर दर असल यह बात नहीं है। दोनों एक अर्थमें प्रयुक्त नहीं हो सकते। यह बात नहीं है

कि हर एक नागरिक निर्वाचक होता ही रहे। प्रायः सब ही राज्योंमें कई नागरिक ऐसे होते हैं जो निर्वाचक (Electors) नहीं होते, और कुछ निर्वाचक ऐसे होते हैं जो नागरिक नहीं होते। निर्वाचनके अधिकारके लिये नागरिकता आवश्यक बात नहीं, दोनोंमें आवश्यक सम्बन्ध नहीं। कई राजनीतिक लेख-कोंका कथन है कि अगर नागरिक शब्द उन्हींके लिये प्रयुक्त किया जावे जो सम्पूर्णरूपसे सिविल और राजनीतिक स्वत्वोंको भोगते हैं, तो इस सम्बन्धमें होनेवाली बहुत सी गड़बड़ दूर हो जायगी।

नागरिकता और राष्ट्रीयता।

नागरिकता प्राप्त करनेके दो साधारण साधन हैं। एक जन्म (Descent) और दूसरा राज्यके द्वारा दी गयी नागरि-कताकी सनद। नागरिकताका राष्ट्रीयतासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना राष्ट्रीयताके निश्चित हुए नागरिकताके हक नहीं प्राप्त हो सकते। अतएव यहां यह दर्शाना भी आवश्यक है कि राष्ट्रीयता (Nationality) किस प्रकार निश्चित की जाती है। इसके भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न २ नियम हैं। कहीं तो रक्त-सम्बन्धसे राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है और कहीं जन्मभूमिसे, अर्थात् कहीं तो मनुष्यकी राष्ट्रीयता उसके मातापिताकी या इन दोनों-मेंसे एककी राष्ट्रीयतासे निश्चित की जाती है और कहीं केवल जन्मभूमिसे निश्चित की जाती है। कहीं दोनोंसे की जाती है। यूरोप और एशियाके प्राचीन लोग मातापिताओंके ही सम्बन्धसे

मनुष्यकी राष्ट्रीयता सिद्ध करते थे। रोमके कानूनमें भी यही बात है। हालमें भी अधिकांश देशोंमें मातापिताके ही सम्बन्धसे मनुष्यकी राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। आस्ट्रिया देशका कानून है, "आस्ट्रियाके नागरिकोंके लड़के चाहे वे कहीं पैदा हुए हों या रहते हों आस्ट्रियाके नागरिक समझे जायँगे। फ्रांस देशमें भी यह कानून है कि फ्रेंच पितासे जन्मा हुआ पुत्र चाहे वह अन्य देशमें पैदा हुआ हो या रहता हो फ्रान्स देशका नागरिक समझा जायगा। इटाली देशका कानून भी उन सब लोगोंको इटालीके नागरिक समझता है, जिनके जन्म इटालियन पितासे हुए हों। इसी प्रकारका कानून यूरोपके बहुतसे राज्योंमें है। हिन्दुस्तानमें भी प्रायः यही कानून है। कहीं कहीं जन्मभूमिसे भी राष्ट्रीयता निश्चित की जाती है। इगलैंड और अमेरिकाका संयुक्त प्रदेश अपने राज्यमें विदेशी मातापितासे पैदा हुए लड़कोंको अपने नागरिक मान लेते हैं और अंग्रेज या अमेरिकन मातापिताके द्वारा विदेशमें जन्मे हुए लड़कोंको भी अपने नागरिक मानते हैं; अर्थात् एक दृष्टिसे यहां दोनों नियम प्रचलित हैं। इनके दोनों हाथ लड्डू रहते हैं। इसके विपरीत फ्रांस केवल मातापिताके ही सम्बन्धको लेकर राष्ट्रीयता निश्चित कर लेता है। किसी भी देशमें अगर कोई फ्रेंच मातापितासे जन्मा है तो वह फ्रांस देशका नागरिक हो जायगा। उसकी नागरिकताकी हर जगह फ्रांस रक्षा करेगा। इसमें एक मजा है, वह यह है कि अगर फ्रांस देशके मातापितासे अमेरिका या इंग्लैंडमें कोई बच्चा पैदा हो तो उसे

फ्रांस देशके कानूनके अनुसार फ्रांसकी भी नागरिकताके अधिकार प्राप्त होंगे और अमेरिका तथा इंग्लैंड देशके कानूनके अनुसार अमेरिका तथा इंग्लैंडकी भी नागरिकताके हक प्राप्त हो जायंगे, अर्थात् इन्हें दुहरा लाभ प्राप्त होगा। इन्हें दुहरी राष्ट्रीयता प्राप्त हो जायगी।

आजकलके बड़े बड़े राजनीतिज्ञ जन्मभूमिकी अपेक्षा मातापिताओंके ही सम्बन्धसे किसी मनुष्यकी राष्ट्रीयता निश्चित करना अच्छा समझते हैं। उनका कहना है कि अगर केवल जन्मभूमिसे ही राष्ट्रीयता निश्चित की जावेगी तो इसमें बड़ी गड़बड़ हो जायगी। मान लीजिये कोई फ्रांस देशका निवासी सपत्नीक सफर करने निकला है। रास्तेमें इंग्लैंड आता है और वहां उसकी पत्नीके बच्चा हो जावे तो इंग्लैंडके कानूनके अनुसार वह इंग्लैंडका नागरिक हो गया। पर इससे लाभ क्या हुआ? क्या बच्चेके दिलमें इंग्लैंडके प्रति वह प्रेम और अभिमान रहेगा जैसा कि फ्रांसके प्रति? इस प्रकारकी कई बातोंका ख्यालकर आधुनिक राजनीतिज्ञ मातापिताओंके ही सम्बन्धसे राष्ट्रीयता निश्चित करना अधिक न्यायसंगत और उचित समझते हैं। अमेरिकाके संयुक्त प्रान्तकी सुप्रीम कोर्टने भी एक मामलेमें अपना मत प्रदर्शित करते हुए मातापिताके ही सम्बन्धसे राष्ट्रीयताका निश्चित किया जाना अधिक उचित बतलाया था।

नागरिकताके अन्य भेद।

उपरोक्त दो बातोंके सिवा और भी कुछ भेद हैं, जिनसे

पाश्चात्य देशोंमें नागरिकताके अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं। चाहे कोई मनुष्य किसी राज्यकी सीमामें न जन्मा हो वा उसका उस राज्यके नागरिकके यहां जन्म भी न हुआ हो, वहां भी वह उस राज्यके नागरिकका दावा रख सकता है। नागरिक होनेके कितने ही भेद हैं। उनमें देशीयकरण (Naturalization) मुख्य है। देशीयकरण शब्द हिन्दीमें व्यवहृत नहीं होता है। अंग्रेजीमें जिन भावोंको प्रगट करनेके लिये 'naturalization' शब्द व्यवहृत किया जाता है, उसके लिये हमने देशीयकरण व्यवहृत किया है। विदेशी मनुष्यको कई मुख्य शर्तें पूरी करने पर या पूरी करनेका वादा करनेपर सनदके द्वारा अपने राज्यकी नागरिकताके हकोंसे मण्डित करना अर्थात् उसे अपने राज्यका सम्पूर्ण रूपसे नागरिक बना लेना, इसका नाम देशीयकरण है। यह 'देशीयकरण' भी कई तरहसे होता है। अगर किसी राज्यके नागरिकके यहां किसी अन्य राज्यका लड़का दत्तक चला जाता है तो उसका देशीयकरण हो जाता है ; अर्थात् उसे उस राज्यकी नागरिकताके हक प्राप्त हो जाते हैं। अगर किसी विदेशीय राज्यकी लड़की किसी अन्य राज्यके नागरिकसे व्याह दी जाती है तो वह अपने पतिके देशकी समझी जाने लगती है, और उसे उस देशके नागरिकके हक प्राप्त हो जाते हैं। किसी राज्यमें जायदाद खरीद लेनेपर भी ये हक प्राप्त हो जाते हैं। हमारे इन्दौर राज्यमें ज्योंही किसी ऐसे मनुष्यने जो इन्दौर राज्यकी प्रजा नहीं कुछ स्थावर जायदाद (Immovable property) खरीदी कि वह वहांकी प्रजा समझी जाने लगती है।

यूरोपके भिन्न भिन्न देशोंमें देशीयकरणके भिन्न भिन्न नियम हैं। सन् १८६८के पहले अमेरिकाके संयुक्त प्रान्तमें केवल गोरों-का ही देशीयकरण हो सकता था अर्थात् केवल स्वतन्त्र गोरे (Free white persons) ही वहांकी नागरिकताके हकदार हो सकते थे। सन् १८७०में वहां एक कानून बना जिसके अनुसार यह हक अफ्रिकनोंतक विस्तृत कर दिये गये। हिन्दुस्तानियोंको वहां साधारण कानूनके मुताबिक देशीयकरणके हक प्राप्त नहीं हैं। हां किसी विशेष कानूनसे यह हक उन्हें प्राप्त हो सकते हैं। चीनी भी अमेरिकाके कांग्रेसके ऐक्टके मुताबिक वहांके नागरिक नहीं बन सकते अर्थात् वहांके देशीयकरणके हक उन्हें प्राप्त नहीं हैं। हां, अगर किसी चीनीका जन्म अमेरिकामें हो जावे तो वहां उसका देशी-यकरण हो सकता है अर्थात् वह वहांका नागरिक हो सकता है। इसी प्रकार जापानी, बर्मी आदि भी देशीयकरणके हकसे वंचित हैं, क्योंकि ये न तो गोरे हैं और न अफ्रिकन वंशके हैं। इसी प्रकार विदेशी शत्रु, वेश्यापुत्र, सुसङ्गठित सरकारमें अविश्वास करनेवाले, अराजकवादी या अराजकवाद तथा पब्लिक अफसरोंकी हत्या करनेके पक्षपाती, षड्यन्त्री आदि अनेक मनुष्योंका अमेरिकामें देशीयकरण नहीं हो सकता, अर्थात् उन्हें नागरिकताके हक नहीं प्राप्त हो सकते। अमेरिकाके संयुक्त प्रान्तमें देशीयकरणके लिये उच्च श्रेणीके नैतिक चरित्रकी आव-श्यकता है। इसके साथ साथ वहांके राज्यके सिद्धान्तोंपर भी

उसका विश्वास होना चाहिये। सन् १६०६ के नियमानुसार उसे साधारणरूपसे अंग्रेजी लिखना पढ़ना भी आना चाहिये। मेक्सिकोमें सजा पाये हुए चोरोंका, गुलाम रखनेवालोंका, खूनी और डाकुओंका, तथा राज्यविद्रोहियोंका देशीयकरण नहीं हो सकता। मेक्सिकोमें देशीयकरणके लिये यह आवश्यक है कि वह मनुष्य जिसे देशीयकरणके हक दिये जायं किसी रोजगार धन्धेमें या नौकरीमें लगा हुआ हो। वह आवारा न हो। उसके पास उदरनिर्वाहके काफी साधन हों। पेरूमें भी देशीयकरणके लिये इन बातोंकी आवश्यकता है। नारवेमें देशीयकरणके लिये यह जमानत ली जाती है कि वह मनुष्य कोई अपराध न करेगा। पोर्चुगाल और स्वीडनमें देशीयकरणके लिये मनुष्यको यह सबूत पेश करना पड़ता है कि उसके पास उदरनिर्वाहके काफी साधन मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त स्वीडन अच्छे नैतिक चरित्रके लिये भी जामिन लेता है। जर्मनीके देशीयकरणके उम्मीदवारके लिये यह आवश्यक है कि वह इस बातका प्रमाण दे कि वह अपना और अपने कुटुम्ब तथा आश्रित जनोंका भरणपोषण अच्छी तरह कर सकता है।

अब यह देखना है कि भिन्न भिन्न राज्योंमें देशीयकरणके लिये कितने समय तक वास करनेकी आवश्यकता है। पोर्चुगाल, अर्जेन्टाइन, स्विट्जरलैंड और मेक्सिकोमें देशीयकरणके लिये दो वर्षके वासकी आवश्यकता है। स्वीडनमें इसके लिये तीन वर्षकी आवश्यकता है, पर अगर उम्मीदवार विज्ञान और

कला कौशलका असाधारण विद्वान हो या वह आविष्कारक हो तो उसके लिये यह अवधि कम हो सकती है। इटालीमें देशीयकरणके लिये चार वर्षके निवासकी जरूरत है। पर सरकारी या फौजी नौकरोंके लिये वहां केवल चार ही वर्ष काफी हैं। अगर कोई विदेशी इटालियन स्त्रीका पति है तो उसके लिये देशीयकरणके लिये तीन ही वर्षका वास काफी है। अमेरिकाका संयुक्त प्रदेश, हंगरी, ग्रेटब्रिटन, जापान, नीदरलैंडमें इसके लिये पांच वर्षका वास होना चाहिये।

यह तो हुई सर्वसाधारणकी बात। पर इस सम्बन्धमें कुछ विशिष्ट श्रेणीके मनुष्योंके लिये देशीयकरणके विशिष्ट नियम हैं। ग्रेटब्रिटनमें जहां साधारण मनुष्यके लिये देशीयकरणके लिये पांच वर्षके निवासकी आवश्यकता है वहां उस विदेशी मनुष्यके लिये जो श्रीमान् सम्राट्की नौकरीमें है इतने समयकी आवश्यकता नहीं है। अमेरिकाके संयुक्त प्रान्तमें उस विदेशी मनुष्यके लिये जो फौजमें नौकर है देशीयकरणके वास्ते एक वर्षका निवास ही बस है। फ्रान्समें देशीयकरणके लिये ऐसे दस वर्षके निवासकी आवश्यकता होती है। पर किसी आविष्कार करनेवालेको या उद्योग धन्धोंमें नया प्रकाश डालनेवाले असाधारण प्रतिभाशाली विद्वानके लिये एकही वर्षका निवास काफी समझा गया है।

देशीयकरणके परिणाम।

अब यह देखना है कि विदेशीका देशीयकरण हो जानेसे

उसे क्या लाभ हो सकता है। इससे बहुत लाभ हैं। इससे राज्यमें किसी विदेशीको वही हक प्राप्त हो जाते हैं जो उस राज्यके नागरिक मातापिताओंसे जन्मे हुए मनुष्यको होते हैं। ब्रिटिश देशीयकरणके कानूनके मुताबिक वह विदेशी जिसका ब्रिटनमें देशीयकरण हुआ है अपने स्वदेशको छोड़कर सर्वत्र ब्रिटिश नागरिकके हकोंसे मण्डित रहेगा। इस कानूनमें स्वदेशको छोड़ देनेकी बात इसलिये कही गयी है कि महायुद्धके पहले रूस और टर्कीमें ऐसा कानून था कि इन दोनों राज्योंका अगर कोई प्रजाजन अपने सरकारोंकी बिना इजाजत अन्यत्र अपना देशीयकरण करवा ले तोभी इन दोनों देशोंमें (रूस और टर्कीमें) वह अन्य राज्यका नागरिक न समझा जाकर इन्हीं देशोंका नागरिक समझा जायगा। सन् १६०१ में इंग्लैंडमें देशीयकरण जांच-कमिटी बैठी थी। उसने बड़े जोरसे इस बातकी सिफारिश की थी कि जहांतक बने इंग्लैंडके मातापिताओंसे जन्मे हुए और देशीयकरण किये हुए ब्रिटिश प्रजाजनोंमें कोई भी अन्तर न माना जावे। ब्रिटिश मातापितासे जन्मे हुए मनुष्यकी तरह ब्रिटिश राज्य द्वारा देशीयकरण किया हुआ मनुष्य हर जगह ब्रिटिश नागरिक माना जावे। उसे सब जगह वे सब हक रहें जो खास ब्रिटिश प्रजाजनको रहते हैं।

अमेरिकाके संयुक्त प्रान्तमें वहांके खास नागरिक और देशीयकरण किये हुए नागरिकके हकोंमें थोड़ा सा अन्तर है। वह केवल यही है कि जहां वहांका प्रधान नागरिक प्रेसिडेन्ट

और उसका सहायक बन सकता है वहां देशीयकरण द्वारा बनाये हुए नागरिकको यह हक नहीं रहता। इस भेदको छोड़कर दोनोंको हर बातमें समानाधिकार रहते हैं।

नागरिकताका नाश।

यह तो हुई विविध प्रकारोंके द्वारा नागरिकता प्राप्त करनेको बात। अब यह देखना है कि किन किन बातोंसे नागरिकताके हक नष्ट हो जाते हैं। विदेशीके साथ शादी करनेसे स्त्री अपने राज्यके नागरिकताके हक खो देती है। यूरोपके कई राष्ट्रोंमें ऐसा कानून है कि किसी विदेशीय सरकारको फौज या जल-सेनामें नौकरी कर लेनेसे मनुष्य अपने राज्यके नागरिकताके हक गंवा बैठता है। बव्हेरिया और पोर्चुगालमें नियम है कि जहां वहांके किसी प्रजाजनने अपने राज्यकी परवानगीके सिवा किसी अन्य राज्यकी कोई उपाधि या पदक स्वीकार किया कि वह नागरिकताके हकोंसे हाथ धो बैठता है। कई राज्योंमें फौजदारी अपराधमें आ जानेके कारण मनुष्य नागरिकताके हक खो देता है। कुछ राज्योंमें ऐसा नियम है कि वहांका कोई नागरिक जहां किसी विशिष्ट लम्बी अवधितक देशके बाहर रहा कि वह नागरिकताके अधिकारोंसे विहीन हो जाता है। इस प्रकार और भी कुछ कारणोंसे नागरिकताके हक चले जाते हैं। उन सब कारणोंको यहाँ देनेसे हम समझते हैं हमारे पाठकोंका दिल ऊब जायगा और न इसका विस्तृत विवेचन उनके लिये

अधिक लाभदायक ही न होगा। अतएव हम इस अध्यायको अधिक बढ़ाना नहीं चाहते।

प्रतिनिधि तत्त्व।

आजकलके सभ्य और स्वतन्त्र देशोंकी शासनप्रणाली विशेषरूपसे प्रतिनिधित्व पर ही चलायी जा रही है। राजनीतिके बड़े २ आचार्यों का कथन है कि जिस शासनप्रणालीमें प्रतिनिधितत्त्वका समावेश नहीं है वह सभ्य जनोचित शासन-प्रणाली नहीं। राज्य जनतासे बनता है और जनताके चुने हुए प्रतिनिधि जनताके हिताहितको जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं, उनके स्वार्थोंका जितनी अच्छी तरह प्रकटीकरण कर सकते हैं उतनी अच्छी अन्य कोई नहीं कर सकते। आजकलके जितने स्वतन्त्र और सभ्य राष्ट्र हैं उनमें किसी न किसी तरह प्रतिनिधि तवत्त्का समावेश है। अब यहां यह देखना है कि प्रतिनिधित्वका विकास दिनोंदिन किस प्रकार होता गया। प्राचीन या मध्यकालमें प्रतिनिधित्वका क्या रूप था और आज क्या है?

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य राजनीति-विशारद मांटेस्क्यूका कथन है कि प्राचीन लोगोंको विशुद्ध प्रतिनिधि तत्त्वकी कल्पना ही नहीं थी। विशुद्ध प्रतिनिधित्वकी कल्पना बिलकुल आधुनिक है। प्राचीन कालके राज्योंमें कानून बनानेकी सत्ता लोकप्रतिनिधियों-के हाथ नहीं थी। राजा लोग अपनी निजकी बुद्धिसे या विद्वान सलाहकारोंकी रायसे कानून बनाते थे। अति प्राचीन कालमें

जब राज्यसंस्थाका अस्तित्व नहीं था सब लोगोंका समूह इकट्ठा होकर अपनी वैयक्तिक हैसियतसे कानून बनाता था। यहां यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह समूह साधारण लोगोंका होता था, लोगोंके चुने हुए प्रतिनिधियोंका नहीं। प्राचीन ग्रीसमें जो सभा कानूनके प्रस्ताव करती थी, या उन्हें मंजूरी देती थी वह प्रतिनिधि तत्त्वके बहुत नजदीक पहुंच गयी थी, पर उसकी सीमाके अन्दर वह पैर न रख पायी थी। इस सभामें प्रायः स्वतन्त्र मनुष्य (free men) रहते थे और वे अपनी वैयक्तिक हैसियतसे काम करते थे। सुप्रसिद्ध तत्वज्ञ रूसो (Rousseau) का कथन है कि प्रतिनिधित्वकी कल्पना बिलकुल आधुनिक है। इसकी उत्पत्ति उन सरकारोंके कारण हुई जिनका कार्य मानव-जातिके अधःपातका कारण होता था, जिनके शासनमें मनुष्यके साथ पशुवत् बर्ताव किया जाता था। मांटेस्क्यूके कहनेका आशय यह है कि स्वेच्छाचारी शासनप्रणालीसे तंग आकर लोगोंने प्रतिनिधि तत्वकी स्थापना की।

मध्ययुगीय यूरोपमें प्रतिनिधित्वकी भावनाका बहुत कम विकास हुआ था। इंग्लिश पार्लमेंटमें इस वक्त जो सदस्य रहते थे वे सारे राष्ट्रके प्रतिनिधि होनेके बजाय कुछ समूह विशिष्ट हुआ करते थे। कहा जाता है कि उस समय इंग्लिश पार्लमेण्टमें सरदारों, धर्माचार्यों और मध्य श्रेणीके मनुष्योंके प्रतिनिधि रहा करते थे। आजकल प्रतिनिधित्वकी जो भावना है वह उस समय इंग्लैण्डमें नहीं थी। यूरोपके और भी

कितने ही देशोंकी प्रतिनिधिसंस्थाकी यही हालत थी। यूरोपमें प्रतिनिधिसंस्थाका बहुत देरसे विकास हुआ। मध्ययुगके महादेशीय नगरोंके शासनमें प्रतिनिधित्वका तत्त्व काममें लाया जाता था, पर उसका रूप बहुत भद्दा और अपूर्ण था। प्रतिनिधित्वके असली भावको वह सार्थक नहीं करता था। आगे जाकर यूरोपमें जैसे जैसे नगरोंका विकास होता गया वैसे २ प्रतिनिधित्त्वको विशेष उत्तेजन और प्रोत्साहन मिलता गया।

इंग्लैण्डमें सोलहवीं सदीके मध्यमें प्रतिनिधित्वकी भावनामें परिवर्तन हो गया था। इस वक्त इंग्लिश पार्लमेण्टमें बहस करते हुए हेलेन नामक एक सदस्यने इस आशयके भाव प्रकट किये थे।

"यह एक उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण तत्त्व है जो आजकल स्वीकृत किया जा रहा है। वह यह है कि हाउस आफ कामन्समें जो लोग जायंगे वे केवल किसी दल या समुदाय-विशेषके ही प्रतिनिधि नहीं, पर सारे राष्ट्रके प्रतिनिधि समझे जायंगे। फ्रांसमें प्रतिनिधित्वकी नयी कल्पनाका उदय फ्रांसकी क्रांतितक नहीं हुआ था। फ्रांसके सन् १७९१के नये विधानमें प्रतिनिधित्व-की नयी कल्पनाका समावेश किया गया है। इस विधानमें साफ साफ लिखा गया है कि डिप्टी(Deputy)किसी दल, धन्धा या जातिविशेषका ही प्रतिनिधि नहीं माना जायगा, वह सारे राष्ट्रका प्रतिनिधि माना जायगा। फ्रांसका अनुकरण जर्मनीने भी किया। जर्मनीके विधानमें भी लिखा है कि जर्मन रिश्चेग (Reichstag)के सदस्य न केवल किसी दलविशेषहीके नहीं वरन्

सारे राष्ट्रके प्रतिनिधि हैं। कहा जाता है कि यूरोपके अन्य देशोंकी राजपद्धतियोंमें आजकल प्रायः यही भावना काम कर रही है। आजकल संसारके प्रायः सभी सभ्य देशोंमें प्रतिनिधि किसी दलविशेषका नहीं पर सारे राष्ट्रका समझा जाता है।

एक समय था जब यूरोपमें यह विचार अधिक प्रबलता धारण किये हुए था, कि राज्यकार्यमें प्रत्येक दलकी ओरसे चाहे उसका आर्थिक बातोंसे सम्बन्ध हो या सामाजिक अथवा राजनीतिक बातोंसे, कोई न कोई ऐसा प्रतिनिधि होना चाहिये जो केवल उस विशिष्ट दलके स्वार्थकी ही रक्षामें अपनी आवाज उठावे। उस वक्त यह ख़याल था कि केवल संख्याकी तादादसे प्रतिनिधि चुननेके बजाय दल-विशेषसे चुनना कई गुना अच्छा है। लार्ड बेरोहमने ब्रिटिश विधानपर जो ग्रन्थ लिखा है, उसमें साफ साफ कहा है कि "प्रतिनिधियोंकी व्यवस्थामें इस बातपर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि इसमें प्रत्येक दलके प्रतिनिधित्वका समावेश हुआ है या नहीं।" लार्ड बेरोहम अपनी बातकी पुष्टिमें एक दलील देते हैं। वे कहते हैं कि मान लिया जावे कि व्यवसायकी कोई विशिष्ट शाखा किसी ऐसे प्रान्तमें तरक्की पा रही है जो राज्यकेन्द्रसे बहुत दूर है। वहांकी लोकसंख्या इतनी नहीं है कि वे तादादके बलपर अपना प्रतिनिधि भेज सकें। पर उस विशिष्ट व्यवसायकी हितरक्षाके लिये उस जिलेकी ओरसे प्रतिनिधि अवश्य जाना चाहिये। इसी प्रकार डिग्निट (Dignit), प्रिन्स, डेग्रीफ, चार्ल्स, बनार आदि फ्रेंच लेखकोंने अलबर्ट शेफले

नामक सुप्रख्यात आस्ट्रियन राजनीतिक विद्वानने तथा कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानोंने भी इस सामुदायिक प्रतिनिधित्व-पद्धतिका समर्थन किया है। फ्रेंच लेखक डिग्निटने लिखा है कि सर्वसाधारण जनताकी इच्छा जितनी अच्छी तरह भिन्न भिन्न दलोंके प्रतिनिधि लेनेसे जानी जा सकती है, उतनी अन्य पद्धतिसे नहीं जानी जा सकती, क्योंकि इन दलोंकी सम्मिलित राय ही तो सर्वसाधारण जनताकी राय है। कोई धारासभा (Legislarute) तबतक सच्ची प्रातिनिधिक सभा नहीं कहला सकती, जबतक कि उसमें राज्यमें रहनेवाले व्यक्तियोंका या व्यक्तियोंके दलोंका प्रतिनिधित्व नहीं है। आगे चलकर डिग्निट फिर कहता है कि राष्ट्रीय जीवनकी सब शक्तियोंका अर्थात् उद्योग धन्धे, व्यपार कला कौशल आदि सबके प्रतिनिधित्वका उतने ही जोरके साथ समर्थन किया जा सकता है, जितना भिन्न भिन्न राजनीतिक दलोंका।

इस प्रकारके प्रतिनिधित्वका एसमिन नामक सुप्रख्यात विद्वानने भारी विरोध किया है। वह कहता है कि अगर धारासभामें प्रतिनिधि सारे देशके सामुदायिक हितको भुलाकर अपने अपने दलकी स्वार्थरक्षापर बोलेगा तो बड़ी गड़बड़ हो जायगी, और उक्त धारासभा केवल एक डिबेटिंग क्लब हो जायगा। ऐसी दशामें हर एक प्रतिनिधि अपनी अपनी डफ और अपना अपना राग गायेगा। प्रत्येक दलका प्रतिनिधि सारे राष्ट्रके सामुदायिक हितपर ध्यान न देकर केवल अपने दलकी स्वार्थरक्षापर ध्यान

देगा। इससे राष्ट्रीय लाभ होनेके बजाय हानि ही अधिक होगी।

इन्हीं सब बातोंको विचारकर आधुनिक प्रतिनिधित्वकी इमारत राष्ट्रीय नींवपर खड़ी की गई है। अब प्रतिनिधि किसी दल, जाति, वर्ग या किसी स्थानीय सरकारका ही प्रतिनिधि नहीं समझा जाता है, वह सारे देशका समझा जाता है। उसकी दृष्टि सारे देशपर रहती है। लोग कुछ विशिष्ट समयके लिये अपनी शक्ति या अधिकार प्रतिनिधिको सौंप देते हैं, वह उनका अपनी निर्णयशक्तिके अनुसार उपयोग करता है। यद्यपि उसे अपने निर्वाचकोंके मनोभावोंका ख्याल रखना पड़ता है, पर यह बात जरूरी नहीं है कि वह बात बातमें अपने निर्वाचकोंसे राय ले। ब्लन्शले नामक सुप्रख्यात राजनीतिक लेखकका कथन है कि "आधुनिक प्रतिनिधि किसी व्यक्ति, दल, या संघविशेषका प्रतिनिधि नहीं है, वह राज्यका प्रतिनिधि है और उसका कर्त्तव्य राज्यकर्त्तव्य है। वह न तो अपने निर्वाचकोंकी सूचनाओं (Ins-rtuctions) से बद्ध है और न वह अपने कार्यके लिये उनके सामने उत्तरदायी है।" सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक एस्मिन-ने भी लगभग ब्लन्शले जैसे ही विचार प्रकाशित किये हैं। उनका कथन है—"प्रतिनिधि वह है जो अपने वैध अधिकारों (Constitutional powers) की सीमामें लोगोंके बदले अपनी स्वतन्त्र निर्णयशक्तिके अनुसार कार्य करनेके लिये निर्वाचित किया गया है। उसे कार्य और निर्णयकी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

अगर कोई प्रतिनिधि अपनी निर्णय और विचार शक्तिसे काम नहीं लेकर केवल निर्वाचकोंकी सलाहका ग्रामोफोन है तो वह वास्तविक अर्थमें प्रतिनिधि नहीं। सर्वसाधारणके हित और भलाई-के लिये उसे अपनी निर्णय शक्तिसे कम लेना चाहिये।" ब्रिस्टलमें व्याख्यान देते हुए इंग्लैंडके विश्वविख्यात एंडमंड बर्क महोदयने कहा था—"आजकलकी पार्लमेण्ट भिन्न भिन्न विरोधी स्वार्थ रखनेवाले दलोंके वकीलोंकी सभा नहीं है। अब पार्ल-मेण्ट एक राष्ट्रकी विचारपूर्ण संस्था है। आप मेम्बरको चुनते हैं। चुने जानेके बाद वह केवल आपहीका नहीं पर सारे राष्ट्रका प्रतिनिधि हो जायगा।" बर्क महोदयने आगे चलकर यह भी कहा है कि प्रतिनिधिका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह अपने निर्वाचकोंके मतोंमें अपने मतकी आहुति दे दे, उसका तो यह कर्त्तव्य है कि वह सर्वसाधारण जनताके हितके लिये पूर्ण परिश्रम करे और अपनी प्रतिभा या निर्णयशक्तिका पूर्ण उपयोग करे।

धारासभाके चुने हुए सदस्यको अपने स्वनिर्णयानुसार कार्य करना चाहिये, या उसे अपने निर्वाचकोंके मतोंको ग्रामो-फोनके गानोंकी तरह ज्योंका त्यों सुना देना चाहिये। उसे जनताके हितको सामने रखकर अपने निर्णयके अनुसार कार्य करना चाहिये या बात बातमें अपने निर्वाचकोंकी सूचनाओंकी अपेक्षा करनी चाहिये, आदि बातोंमें बड़ा मतभेद है। पर जहां-तक हमारा खयाल है आधुनिक कालके अधिकांश लेखक इसी मतके हैं कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचकोंका ग्रामोफोन नहीं है,

जिसमें जो भर दिया जाय वही गावे, प्रतिनिधि आधुनिक कुछ राजनीतिज्ञोंके मतानुसार अपनी स्वतन्त्र निर्णयशक्तिके उपयोग करनेका अधिकारी है। हां, कुछ ऐसे भी राजनीतिक लेखक हैं, जो उपरोक्त मतके अनुयायी नहीं हैं। उनका कहना है कि प्रतिनिधि जनताके मुखपात्र होते हैं। अतएव उनका यह कर्त्तव्य है कि वे लोगोंकी इच्छाको ज्योंकी त्यों प्रकट करें। अगर वे किसी कारणसे ऐसा करना उचित न समझें तो वे अपने पदसे अलग हो जावें। उनका कोई अधिकार नहीं है कि वे कोई भी ऐसा विचार प्रकट करें जो उनके निर्वाचकोंके ख्यालके खिलाफ हो।

हमने अभीतक उन दोनों मतोंका उल्लेख किया है जो प्रतिनिधिके कर्त्तव्योंके विषयमें प्रकट किये जाते हैं। अब हम बड़े बड़े समालोचकोंकी दृष्टिसे इन दोनों मतोंकी समालोचना करते हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचकोंके मुखपात्र हैं, अतएव उन्हें अपने निर्वाचनकी राय ज्योंकी त्यों प्रकट करनी चाहिये, हम समझते हैं, वे, उन व्यावहारिक अड़चनोंकी उपेक्षा करते हैं जो इस पद्धतिको अङ्गीकार करनेसे उपस्थित होती है। इस बातका पूर्णरूपसे पालन कैसे किया जाता है। धारासभामें कई मामले ऐसे उपस्थित होते हैं जिनपर तत्काल बहस करनी पड़ती है। वैसी हालतमें प्रतिनिधि अपने निर्वाचकोंकी बात बातमें कैसे राय ले सकता है? दूसरी बात यह है कि निर्वाचक प्रायः वे लोग रहते हैं जो साधारण

श्रेणीके होते हैं। वे प्रायः असाधारण प्रतिभासम्पन्न नहीं रहते। वे जरा जरा सी बातोंमें जोशमें आ जाते हैं। उनमें शान्त-चित्तसे निर्णय करनेकी शक्ति कम होती है। ऐसी दशामें उनके हितका जितनी अच्छी तरहसे उनका प्रतिनिधि निर्णय कर सकता है उतना वे खुद नहीं कर सकते। यह तो हुई एक पक्षकी अड़चन या कमजोरी। अब दूसरे पक्षकी कमजोरी देखिये। अगर यह मान लिया जावे कि निर्वाचकों या जनताके विचारोंकी उपेक्षाकर प्रतिनिधि अपने मनमाने विचार प्रकट करता है तो जनताको या निर्वाचकोंको उसे प्रतिनिधि चुननेसे फायदा ही क्या ? जनताके साधारण भावों (Common otions) को कुचलकर वह जनताका प्रतिनिधि ही कैसे रह सकता है ? अत-एव बुद्धिमान राजनीतिज्ञ इन दोनों मार्गोंके बीच एक तीसरा ही मार्ग निकालते हैं। उनका कथन है कि प्रतिनिधिका यह कर्त्तव्य तो नहीं है कि वह जनताके भावोंकी उपेक्षा करे, जनता-के विचारोंकी ओर कुछ ध्यान न दे। जनताके भावोंको पूर्ण-रूपसे समझते हुए तथा अपनी स्वतन्त्र निर्णयशक्तिका उपयोग करते हुए परिस्थितिके अनुरूप वह जनताकी भलाईका प्रयत्न करता रहे। पर इसका यह मतलब नहीं है कि वह बात बातमें अपने निर्वाचकोंसे पूछकर काम करे। जनताके हितकी रक्षा करते हुए अपनी निर्णयशक्तिका उपयोग करनेकी उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

साधारण स्थितिमें जनताका प्रतिनिधि उसके निर्वाचकोंसे

प्रायः अधिक बुद्धिमान रहता है। उसे राज्यकार्यका अधिक अनुभव रहता है। अतएव निर्वाचकोंको चाहिये कि वे उसके प्रामाणिक मतों (Honest openion)का उचित आदर करें। जनता अपना प्रतिनिधि नियुक्त करती है। इसका यही अर्थ है कि वह जनताके हितकी रक्षा करनेकी अधिक योग्यता रखता है। उसे जनताके हितके लिये अपनी बौद्धिक और प्रतिभाशक्तिका पूर्ण उपयोग करना चाहिये, और विचारों तथा निर्णयशक्तिकी स्वाधीनताको रखते हुए भी लोकमत और सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहना चाहिये।

मताधिकारके सिद्धान्त।

अठारहवीं सदीके फ्रेंच राजनीति-दर्शन (Political philosophy) का यह सिद्धान्त था कि हरएक नागरिकको अपने प्रतिनिधिके चुनावमें भाग लेनेका स्वाभाविक और पुश्तैनी अधिकार है। उस समय बड़े बड़े फ्रेंच राजनीतिक दार्शनिकों-का यह मत था कि सर्वसाधारणकी इच्छा (General will) ही प्रभुता (Sovereignty) है और यह इच्छा तबतक ठीक रूपसे प्रकट नहीं हो सकती जबतक कि सब नागरिक अपने प्रतिनिधियोंके चुनावके द्वारा उसके आविष्करण(Expression) में भाग न ले। सुप्रसिद्ध राजनीतिक आचार्य मांटेस्क्यू महो-दयका कथन है कि उन लोगोंको छोड़कर जो इतने नीच श्रेणीके हैं कि जिनकी' अपनी निजी इच्छा ही नहीं है, सब लोगोंको प्रतिनिधियोंके चुनावमें हिस्सा लेनेका अधिकार होना चाहिये।

सुप्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक विद्वान रूसोका भी यही मत था। फ्रांस राज्यक्रान्तिके समयके अन्य कितने ही विद्वानोंने इस मतका समर्थन किया था। फ्रांस राज्यक्रान्तिके समयके रिबोस्पेयर नामक विद्वानका कथन है, "प्रभुता" (Sovereignty) लोगोंमें वास करती है और हरएक नागरिकका चाहे वह कोई क्यों न हो, प्रतिनिधित्वमें भाग होना चाहिये। उसका यह हक है कि जिन कानूनोंकी उसे पाबन्दी करनी पड़ती है उनके संगठनमें वह उचित योग दे।" एक अन्य तत्कालीन फ्रेंच विद्वानका कथन है कि मताधिकार (Suffrage) प्रकृतिका दान है। प्रत्येक नागरिकको इस दानके उपभोग करनेका नैसर्गिक अधिकार है। यद्यपि फ्रांस देशके विद्वानोंने उपरोक्त सिद्धान्तका बड़े जोरसे मण्डन किया था, पर दुःखकी बात है कि उस समय खास फ्रांस देशके शासन-सङ्गठनमें इसका समावेश न हो सका था। इस उन्नतिशील समयमें भी स्विट्जरलैंडको छोड़कर साधारण मताधिकार कहीं भी व्यवहारमें नहीं आ रहा है। एक दो साधारण अपवादोंको छोड़कर यूरोप और अमेरिकाके भिन्न भिन्न देशोंकी शासनप्रणालियोंमें मताधिकार कुछ विशिष्ट नियमों और शर्तोंपर रखा गया है। इसके खुलासेके लिये हम आगे कई भिन्न भिन्न देशोंके मताधिकारका अति संक्षिप्त इतिहास देते हैं। इससे पाठकोंको समझनेमें कुछ सुभीता होगी।

सन् १८३२ तक इङ्गलैंडमें पार्लियामेंटके लिये सदस्य चुननेका केवल उन्हींको अधिकार था जिनकी स्थावर सम्पत्ति ४०

शिलिंग या इससे ऊपर हो। यहां यह बात न भूलना चाहिये कि उस वक्तके ४० शिलिंगका मूल्य आजकलके ४० शिलिंगसे बहुत अधिक था। इसके बाद जैसे जैसे राजनीतिक विचारोंका विकास होता गया वैसे वैसे अन्य देशोंकी तरह इङ्गलैंडकी मताधिकारपद्धतिमें भी परिवर्त्तन होता गया। आज इङ्गलैंडमें जनताके अधिकांशको मत देनेका अधिकार है। केवल घरू नौकर, ब्रह्मचारी (जो अपने माता पिताके आश्रयमें रहते हैं, और जिनको निजी ठौर ठिकाना नहीं)। हमेशा इधर उधर घूमनेवाले, पागल, दण्डभोगी अत्यन्त दरिद्र आदि मनुष्योंको छोड़कर प्रायः सभी जनताको इङ्गलैंडमें मताधिकार है।

फ्रांसमें भी दण्डप्राप्त, दिवालिया, नाबालिग और युद्धपर गये हुए फौजी लोगोंको छोड़कर सब पुरुषोंको मताधिकार है।

जर्मनीमें भी करीब करीब सब पुरुषोंको मताधिकार है। हां, जर्मनीमें इंगलैंड और फ्रांसकी अपेक्षा निर्वाचकोंकी अधिक उम्र होनी चाहिये। बिना पच्चीस वर्षकी उम्र हुए वहां कोई पुरुष मताधिकार नहीं प्राप्त कर सकता। यहां भी अन्य कई देशोंकी तरह पागल, दिवालिया अत्यंत दरिद्र और युद्धपर गये हुए सैनिकोंको मताधिकार नहीं है। निर्वाचनके कुछ विशिष्ट समयके पहले निर्वाचकोंका नाम निर्वाचक-सूचीपत्र (Electoral list) पर लिखा जाता है।

बेल्जियममें सन् १८९३ में बहुत मताधिकार (Pural voting) की पद्धति शुरू हुई। बहुमताधिकारका अर्थ है

किसी विशिष्ट मनुष्यको किसी विशिष्ट स्थिति या गुणके कारण एकसे विशेष मत देनेका अधिकार प्राप्त होना। इस शेषमतको वजनदार मत (Weighted note) कहा है। कहा जाता है कि इस वजनदार मतकी पद्धति उन दोषोंको कम करनेके लिये निकाली गयी है जो आम मताधिकार (Universal Suffrage) की पद्धतिसे उत्पन्न होते हैं। वजनदार मताधिकारके हिमायतियोंका कहना है कि संसारमें हमेशा विद्वानों और बुद्धिमानोंकी अपेक्षा अज्ञानियों और मूर्खोंकी ही संख्या अधिक होती है और उसका परिणाम यह होता है कि चुनाव करनेमें विद्वानों और बुद्धिमानोंसे अज्ञों और मूर्खोंका अधिक बल बढ़ जाता है। इससे कई बुराइयां पैदा होती हैं। इन्हें रोकनेके लिये यह आवश्यक है कि किसी विशिष्ट गुण तथा स्थितिसम्पन्न मनुष्यको साधारण जनताके मुकाबलामें एकसे अधिक वोट (मत) दिये जावें। इससे कम संख्यावाले विशिष्ट गुणसम्पन्न मनुष्य अधिक संख्यावाले अज्ञानियोंके मुकाबलेमें खड़े होकर उन बुराइयोंको संयमित करनेमें समर्थ हो सकेंगे जो सर्वमताधिकारमें अज्ञानियोंकी ज्यादा संख्या होनेके कारण उत्पन्न हुई हैं।

वजनदार मताधिकारकी पद्धति भी निर्दोष नहीं। वजनदार मताधिकार देनेके लिये जिन विशिष्ट गुणों और स्थितियोंकी आवश्यकता होती है उनकी ठीक ठीक परीक्षा करनेके लिये कौन सी कसौटी पैदा करना चाहिये। और भी इसमें तरह तरहकी अड़चने उपस्थित होती हैं। यद्यपि कई दृष्टिसे वह वजनदार

मताधिकार-पद्धति ठीक चलती है पर आजकल संसारके मतका पलड़ा इस ओर झुकता हुआ नहीं है। आजकल संसारकी गति आम मताधिकार पद्धतिकी ओर विशेष रूपसे है।

साधारण-मताधिकार

अकसर यह कहा जाता है कि प्रत्येक नागरिकका यह पुश्तैनी और स्वाभाविक अधिकार है कि वह प्रतिनिधियोंके चुनावमें हिस्सा ले। प्रजा ही सरकारका अवलम्ब है, प्रजा ही सरकारकी सब शक्तियोंका आधार है। ऐसी हालतमें कई राजनीतिज्ञोंके मतानुसार प्रजाका कोई भी समझदार मनुष्य मताधिकारसे विहीन न रखा जाना चाहिये। अठारहवीं सदीके फ्रेंच राजनीतिज्ञोंका भी यही मत था।

सुप्रसिद्ध राजनीतिविशारद जज स्टोरी महोदयका कथन है कि यह बात कभी सम्भव नहीं हो सकती कि सबके सब प्रजाजन मताधिकार प्राप्त कर सकें। विशुद्धसे विशुद्ध प्रजातंत्रमें भी कुछ लोग ऐसे रह ही जाते हैं जिन्हें मताधिकार नहीं रहता। क्या पागल, बच्चे, कुचरित्र आदि कई प्रकारके मनुष्य विशुद्धसे विशुद्ध प्रजातन्त्रमें भी मताधिकारसे विहीन नहीं रखे जाते? जज स्टोरी महोदयके कथनानुसार अगर किसी बातका भेदभाव रखे बिना सबको बिना किसी अपवादके मताधिकार दे दिया जावे तो राज्यकार्य एक तरहसे असम्भव हो जायगा। अतएव यह आवश्यक है कि मताधिकार जनताकी योग्यता और बुद्धि-

मत्तापर निर्भर रखा जावे। हां, मताधिकारमें शिक्षा-सम्बन्धी उपाधियोंका, बड़े पदका या धनका प्रतिबन्ध न रखा जावे। हर्षकी बात है कि यह प्रतिबन्ध दिन पर दिन सभ्य देशोंसे उठता जा रहा हैं। मिल प्रभृति कुछ सुप्रख्यात राजनीतिविशारद यद्यपि यह आवश्यक नहीं समझते कि मताधिकारके लिये अमुक अमुक शिक्षासम्बन्धी उपाधियोंकी आवश्यकता है पर वे इस बातपर बड़ा जोर देते हैं कि मत देनेवालोंको लिखना पढ़ना ही नहीं चाहिये, वरन् उन्हें कुछ अन्य प्रकारका भी व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये। मिल महोदय कहते हैं:—

"मैं इस बातको अनुचित समझता हूं कि जिन लोगोंको लिखना पढ़ना या मामूली हिसाब किताबका भी ज्ञान नहीं उन्हें मताधिकार दिया जावे। मताधिकारके लिये लोगोंको न केवल लिखना पढ़ना और मामूली हिसाब किताब ही जानना चाहिये पर इनके अतिरिक्त उन्हें साधारण इतिहासका, संसारकी राजनीतिक अवस्थाका थोड़ा बहुत ज्ञान होना चाहिये।" आगे चलकर मिल महोदय यह भी कहते हैं कि "जो लोग टेक्स देते हैं उन्हें चुनावमें टेक्स न देनेवालोंकी अपेक्षा कुछ अधिक अधिकार होने चाहिये।"

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक लेकी महोदयने "डेमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी" नामक ग्रंथमें उन बुराइयोंको दर्शाया है जो अज्ञानियोंके हाथ शासनसत्ता चली जानेसे उत्पन्न होती है। इन्होंने साधारण मताधिकारको बुद्धिमत्तापूर्ण और उपयोगी नहीं बतलाया।

उन्होंने कहा है कि अगर शासनका अंतिम अधिकार उन लोगोंके हाथ चला जायगा जो सबसे अधिक दरिद्र, अज्ञानी और अयोग्य हैं (और इन्हींकी सबसे अधिक संख्या भी रहती है) तो इससे मनुष्य-जातिका बड़ा नुकसान होगा। संसारको योग्यतापूर्वक संचालित करनेमें बुद्धि जितनी सफल हो सकती है उतनी खाली संख्याकी अधिकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार सर हेनरी मेन प्रभृति कितने ही विख्यात विद्वानोंने साधारण मताधिकार-का विरोध किया था। उन्होंने साफ साफ प्रतिपादित किया है कि इसके लिये किसी न किसी प्रकारकी सीमा अवश्य ही निर्धारित होनी चाहिये।

कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि साधारण मताधिकारकी ओर संसारकी गति बड़ी तेजीसे हो रही है। यूरोपमें इसकी सबसे अधिक गति हुई है। कई महानुभावोंका कथन है कि संसारमें शिक्षाका प्रचार दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। यूरोप और अमेरिकामें प्रायः सर्वत्र अनिवार्य शिक्षाका प्रचार है। मनुष्य-जातिकी मानसिक और बौद्धिक स्थितिका विकास हो रहा है। चारों ओर ज्ञानज्योति चमकने लगी है। ऐसी हालतमें यह कहा जा सकता है कि साधारण मताधिकारमें जो बुरा-इयां भूतकालमें थीं उतनी वर्त्तमान कालमें नहीं हैं और भविष्य कालमें तो इनका बहुत कुछ मूलोच्छेदन हो जायगा। हम मिल महोदयके इस कथनसे सहमत हैं कि साधारण मताधिकारके पहले साधारण शिक्षाकी आवश्यकता है।

स्त्रियोंको मताधिकार

फ्रांसकी क्रांतिके समय जब यूरोपमें पुरुषोंके लिये आम मताधिकार की बात बड़े जोर शोरसे चल रही थी तब वहांकी राष्ट्रीय-सभा (National Assembly)के सामने एक दरख्वास्त पेश की गयी थी जिसमें स्त्रियोंको मताधिकार देनेकी प्रार्थना की गयी थी। फ्रांसके कई राजनीतिज्ञोंने इसका समर्थन किया था। उसमें कहा गया था कि मताधिकार प्रत्येक नागरिकका नैसर्गिक अधिकार है। इससे स्त्रियांको वंचित रखना अन्याय है क्योंकि स्त्रियां भी नागरिक हैं। इसके बाद बेन्थम, थामस, हेयर, प्रोफेसर सिजविक, जान स्टुअर्ट मिल प्रभृति कितने ही संसार-विख्यात राजनीतिक लेखकोंने स्त्रियोंके मताधिकारके लिये आवाज उठायी थी। इन विद्वानोंने अपने अपने ग्रंथोंमें बड़ी योग्यतासे इस विषयकी पुष्टि की है।

उन्नीसवीं सदीके मध्यकालमें स्त्रियोंको मताधिकार देनेका तत्त्व कुछ न कुछ व्यावहारिक रूप ग्रहण करने लगा। अमेरिकामें पहले पहल इसका श्रीगणेश हुआ। अमेरिकाके कई राज्योंने स्थानीय चुनावमें स्त्रियोंके मत लेने शुरू किये। तबसे इस तत्त्वका वहाँ बराबर विकास हो रहा है और आशा की जाती है कि निकट भविष्यमें वहां स्त्रियां पुरुषोंके समान विस्तृतरूपसे मताधिकार प्राप्त कर लेंगी।

इङ्गलैंडमें स्त्रियोंको मताधिकार

इङ्गलैंडमें फिलहाल स्त्रियोंको पार्लामेन्टके चुनावके अतिरिक्त सर्वत्र मताधिकारके वे अधिकार प्राप्त हैं जोकि पुरुषोंको हैं। इतना ही नहीं इङ्गलैंडमें मेअर (Mayor) एल्डरमन (Alderman) और म्युनिसिपल मेम्बर आदि पद भी स्त्रियां पा सकती हैं। कई बार अनुदार और उदार दल दोनोंने प्रस्ताव पासकर सब चुनावोंमें स्त्रियोंको मताधिकार देनेके प्रस्ताव पास किये हैं। विलायतके मजदूरदलके आदर्शोंमें स्त्रियोंको पुरुषोंकी तरह सम्पूर्ण मताधिकार दिलवानेका भी एक आदर्श है। अभी कुछ दिन पहले स्त्रियोंने सम्पूर्ण मताधिकारके लिये बड़ा रौला मचाया था। स्त्रियोंने पार्लमेन्टतकपर धावे किये थे। उस समयके प्रधान मंत्री मि० एस्किथ बड़ी बुरी तरह पीटे गये थे। आस्ट्रेलियामें स्त्रियोंको न केवल पुरुषोंके समान मताधिकार ही प्राप्त हैं वहां स्त्रियां पुरुषोंकी तरह पार्लमेन्टकी मेम्बर भी हो सकती हैं। टस्मानिया और न्यूज़ीलैंडमें स्त्रियोंको पुरुषोंके बराबर मताधिकार प्राप्त हैं। नार्वे और फिनलैंडमें क्या पार्लमेन्टरी और क्या म्युनिसिपल चुनाव सबमें स्त्रियोंको पुरुषोंके बराबर मताधिकार प्राप्त हैं। कनाडा प्रभृति कई राज्योंमें तो विवाहित, अविवाहित, विधवा, सधवा आदि सब बालिग स्त्रियोंको ठीक पुरुषोंके बराबर मताधिकार हैं।

अमेरिकामें स्त्रियोंको मताधिकार

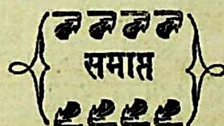
अमेरिकाके संयुक्तप्रान्तके अन्तर्गत कई रियासतें हैं। इनमें कहीं तो स्त्रियोंको पुरुषोंके समान मताधिकार प्राप्त हैं और कहीं कम। क्लोरोडो (Clorodo), इडा (Idaho), आदि कुछ रियासतोंमें स्त्रियोंको पुरुषोंके समान मताधिकार हैं। अन्यत्र कहीं स्त्रियोंको केवल स्कूल-चुनाव (School election) में और कहीं म्युनिसिपल चुनावमें मताधिकार हैं। अमरीकामें भी इङ्गलैंडकी तरह इस बातका बड़ा आन्दोलन हो रहा है कि स्त्रियोंको पुरुषोंकी तरह सर्वत्र और सम्पूर्णरूपसे मताधिकार दिये जावें। इस प्रकारका आन्दोलन करनेवाली वहां कई सुसङ्गठित संस्थाएं हैं।

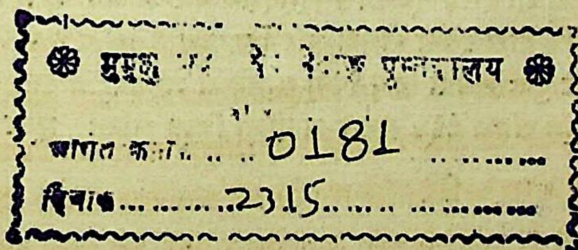
स्त्रियोंको मताधिकार क्यों दिया जाना चाहिये ?

पहिली बात जो स्त्रियोंके मताधिकारके सम्बन्धमें कही जाती है, वह यह है कि स्त्रियोंमें भी पुरुषोंकी तरह बुद्धि है, सोचने समझनेकी शक्ति हैं,अपना हिताहित जाननेको लियाकत है। ऐसी हालतमें केवल स्त्रीत्वके कारण उसे मताधिकार जैसे महत्वपूर्ण राजनीतिक स्वत्वसे विहीन रखना सरासर अन्याय है। मताधिकारका सम्बन्ध स्त्रीपुरुषके शरीरसे न होकर विवेक और बुद्धिसे होना चाहिये। अगर कोई स्त्री सब तरह योग्य है, पर वह स्त्री है इसलिये उसे मताधिकार नहीं यह बात आजकल

पाश्चात्य देशोंमें सभ्योचित नहीं समझी जाती। राजनीतिके प्रख्यात् आचार्य्य सिजविक महोदयका कथन है—

"मैं इस बातका कोई कारण नहीं देखता कि कोई आत्मावलम्बी पुरुष चाहे वह स्त्री हो या पुरुष मताधिकारसे वञ्चित रखा जावे। केवल स्त्रीकी योनिमें जन्म लेनेसे उसे मताधिकारसे वञ्चित रखना अन्याय है।" जान स्टुअर्ट मिल महोदयका कथन है कि "हरएक योग्य नागरिकको मताधिकारी होना चाहिये, इस योनि (Sex) का भेद रखना ठीक नहीं। मताधिकारमें योनिका भेद रखना ठीक वैसा ही है जैसा यह कहना कि अमुक मनुष्यके अमुक अवयवको अन्य अवयवोंसे शरीरपर विशेष अधिकार प्राप्त हैं।" मतलब यह कि आधुनिक राजनीतिज्ञ स्त्रियोंके मताधिकारको आवश्यक और उचित बतलाते हैं।





चरित्रहीन

लेखक---श्रीयुक्त शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

बंगलामें श्रीयुत शरत् बाबूके उपन्यास उच्च कोटिके समझे जाते हैं। मनुष्यके चरित्र-चित्रण करनेमें शरत् बाबूकी लेखनी अद्वितीय है। उनके लिखे उपन्यास पढ़ते समय आंखोंके सामने घटना स्पष्टरूपसे भासने लगती है और यही जान पड़ता है कि मानों पढ़नेवाला वहीं मौजूद है।

चरित्रहीनका विषय नामसे ही प्रकट हो जाता है। इसमें दिखाया गया है कि युवा पुरुष विना पूर्ण देखरेखके किस तरह चरित्रहीन हो बैठते हैं। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि सच्चा स्वामिभक्त सेवक किस तरह दुर्व्यसनके पंजोंसे अपने मालिकको छुड़ा सकता है और अपने ऊपर आनेवाले कष्टकी कुछ परवा न कर, मालिककी भलाईका हमेशा खयाल रख कैसे उसे सच्चरित्रताके सिंहासनपर बिठा सकता है।

इसके अतिरिक्त पति-पत्नीमें प्रेमका होना कितना सुखद है, पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी सेवा किस प्रकार कर सकती है और सच्चरित्र पुरुष अपनी सती सहधर्म्मिणीको हृदयसे कितना प्यार कर सकता है तथा अच्छे घरकी विधवा दुष्टके बहकावे-में पड़कर भी कैसे अपने धर्मकी रक्षा कर सकती है, इन सब बातोंका भी इसमें पूर्णरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है।

उपन्यास इतना रोचक और शिक्षाप्रद है कि एक बार हाथमें लेनेपर पुनः समाप्त किये बिना छोड़नेको जी नहीं चाहता।

पृष्ठ संख्या ६६४ सुन्दर खादीकी जिल्द सहित मूल्य ३)

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी माला

स्थायी ग्राहकोंके लिये नियम—

१—प्रत्येक व्यक्ति ॥) आने प्रवेश शुल्क जमाकर इस मालाका स्थायी ग्राहक बन सकता है।

२—स्थायी ग्राहकोंको मालाकी प्रकाशित प्रत्येक पुस्तकें पौने मूल्यमें मिल सकेंगी।

३—स्थायी ग्राहक मालामें प्रकाशित प्रत्येक पुस्तककी एकसे अधिक प्रतियां पौने मूल्यमें मंगा सकेंगे।

४—पूर्व प्रकाशित पुस्तकोंको लेने न लेनेका पूर्ण अधिकार स्थायी ग्राहकोंको होगा, पर नव प्रकाशित पुस्तकोंमेंसे कमसे कम आधे मूल्यकी पुस्तकें ग्राहकोंको लेनी होंगी, अर्थात् एक वर्षमें जितनी पुस्तकें प्रकाशित होंगी, उनमेंसे आधे मूल्यकी पुस्तकें उन्हें नियमानुसार लेनी होंगी; किसी भी हालतमें ६) रु० से कम लागतकी पुस्तकें न हों।

५—पुस्तक प्रकाशित होते ही उसकी सूचना स्थायी ग्राहकोंके पास भेज दी जाती है। स्वीकृति मिलनेपर पुस्तक वी० पी० द्वारा सेवामें भेजी जाती है। जो ग्राहक वी० पी० नहीं छुड़ावेंगे उनका नाम स्थायी ग्राहकोंकी श्रेणीसे काट दिया जायगा।

६—यदि उन्होंने वी० पी० न छुड़ानेका कोई यथेष्ट कारण बतलाया और वी० पी० खर्च (दोनों बारका) देना स्वीकार किया तो उनका नाम ग्राहकश्रेणीमें पुनः लिख लिया जायगा।

७—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी मालाके स्थायी ग्राहकोंको मालाकी नव प्रकाशित पुस्तकोंके साथ अन्य प्रकाशकोंकी कमसे

कम ६) रु० के लागतकी पुस्तकें भी पौने मूल्यमें दी जायंगी। पुस्तकोंकी नामावली नव प्रकाशित पुस्तकको सूचनाके साथ भेजी जाती है।

८—हमारा वर्ष विक्रमीय संवत् से आरम्भ होता है।

मालाकी विशेषतायें

१—सभी विषयोंपर सुयोग्य लेखकों द्वारा पुस्तकें लिखायी जाती हैं।

२—वर्तमान समयके उपयोगी विषयोंपर अधिक ध्यान दिया जाता है।

३—मौलिक पुस्तकें ही प्रकाशित करनेकी अधिक चेष्टा की जाती है।

४—पुस्तकोंको सुलभ और सर्वोपयोगी बनानेके लिये कमसे कम मूल्य रखनेका प्रयत्न किया जाता है।

५—गम्भीर और रुचिकर विषय ही मालाको सुशोभित करते हैं।

६—स्थायी साहित्यके प्रकाशनका ही उद्योग किया जाता है।

१—सप्तसरोज

लेखक श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

प्रेमचन्दजी अपनी प्रतिभा, मानवभावोंकी अभिज्ञता, वर्णनपटुता, समाजज्ञान, कल्पनाकौशल तथा भाषाप्रभुत्वके कारण हिन्दी संसारमें अद्वितीय लेखक, माने गये हैं। यह कहानियां उन्हींकी प्रतिभाकी ज्योति हैं। इस "सप्तसरोज" में सात अति मनोहर उपदेशप्रद गल्पें हैं, जिनका भारतकी प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद निकल चुका है। हिन्दी संसारने इसे कितना पसन्द किया इसका अनुमान केवल इसीसे होगा कि यह हिन्दी साहित्यसम्मेलनकी प्रथमा परीक्षा तथा कई राष्ट्रीय पाठशालाओंके

कोसमें और सरकारी युनिवर्सिटियोंकी प्राइज लिस्टमें है। अर्थात् राजा और प्रजा दोनोंने इसका आदर किया है। थोड़े ही समयमें यह चौथा संस्करण आपकी भेंट है। मूल्य केवल ॥)

२—महात्मा शेखसादी

लेखक श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

फारसी भाषामें बड़े प्र सिद्ध और शिक्षाप्रद गुलिस्तां बोस्तां-के लेखक महात्मा शेखसादीका बड़ा मनोरंजक और उपदेशप्रद जीवन चरित्र, अनूठा भ्रमण वृतान्त विख्यात गुलिस्तां और बोस्तांके उदाहरणों द्वारा आलोचना, चुनी हुई कहावतें, नीति-कथायें, ग़ज़लें, कसीदे इत्यादिका मनोरञ्जक संग्रह किया गया है। इसमें मह त्मा शेखसादीका ३०० वर्षका पुराना चित्र भी दिया गया है जिससे पुस्तकके महत्वके साथ साथ इसकी सुन्दरता भी बढ़ गई है। दूसरा संस्करण मूल्य ॥)

३—विवेक वचनावली

लेखक स्वामी विवेकानन्द

जगत्प्रसिद्ध स्वामी विवेकान्दजीके बहुमूल्य विचारों और अद्भुत उपदेशोंका बड़ा मनोरंजक संग्रह। बड़ी सीधी साधी और सरल भाषामें, प्रत्येक बालक, स्त्री, वृद्धके पढ़ने तथा मनन करने योग्य। दूसरा संस्करण, साफ सुथरी छपाई और बढ़िया चिकने कागजके ४८ पृष्ठोंका मूल्य ।)

४---जमसेदजी नसरवानजी ताता

लेखक स्वर्गीय पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी बी० ए०

संसारमें आजकल उसी राष्ट्र या व्यक्तिकी तूती बोल रही है

जो उद्योग धन्धे और व्यापारमें बढ़ा चढ़ा है। इन्हीं नरश्रेष्ठोंमें आज भारतका मुख उज्ज्वल करनेवाले श्रीमान् धनकुवेर ताता का नाम है। यह उन्हीं कर्मवीरकी जीवनी बड़ी प्रभावशाली और ओजस्वी भाषामें लिखी गयी है। इस पुस्तकको यू० पी० और विहारके शिक्षाविभागने अपने पारितोषिक-वितरणमें रखा है। दूसरा संस्करण। अच्छे चिकने कागजकी सचित्र पुस्तकका मूल्य केवल ।)

५—कर्मवीर गांधीके लेख और व्याख्यान

लेखक—गांधीभक्त

इस पुस्तकके सम्बन्धमें कुछ लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है। बस, इतना ही समझ लीजिये कि एक वर्षके भीतर पहला संस्करण समाप्त हो गया। शीघ्र ही दूसरा संस्करण बड़ी सजधजसे निकलनेवाला है। मूल्य लगभग १।)

६—सेवासदन

लेखक—श्रीयुक्त "प्रेमचन्दजी"

हिन्दी-संसारका सबसे बड़ा गौरवशाली सामाजिक उपन्यास, जिसका दूसरा संस्करण प्रायः खतम होनेमें आया है। यह हिन्दीका सर्वोत्तम, सुप्रसिद्ध और मौलिक उपन्यास है। इसकी खूबियोंपर बड़ी आलोचना और प्रत्यालोचना हुई है। पतित सुधारका बड़ा अनोखा मन्त्र, हिन्दू समाजकी कुरीतियां जैसे अनमेल विवाह, त्यौहारोंपर वेश्यानृत्य और उसका कुपरिणाम, पश्चिमीय ढङ्गपर स्त्रीशिक्षाका कुफल, पतित आत्माओंके प्रति घृणाका भाव इत्यादि विषयोंपर लेखकने अपनी प्रतिभाकी वह छटा फैलायी है कि पढ़नेसे ही आनन्द प्राप्त हो सकता है।

दूसरा संस्करण। खादी जिल्द मूल्य २॥) एण्टिक कागज मनोहर स्वदेशी कपड़ेकी जिल्दका ३)

७--संस्कृत कवियोंकी अनोखी सूझ

लेखक--पं० जनार्दन भट्ट एम० ए०

संस्कृतके विविध विषयोंके अनोखे भावपूर्ण उत्तमोत्तम श्लोकोंका हिन्दी भावार्थ सहित संग्रह। ऐसी खूबीसे लिखा गया है कि साधारण मनुष्य भी पढ़कर आनन्द उठा सकें। व्याख्यानदाताओं, रसिकों और विद्यार्थियोंके बड़े कामकी पुस्तक है। दूसरा संस्करण मूल्य ।≶)

८--लोकरहस्य

लेखक---उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त बंकिमचन्द्र चटर्जी

का "हास्यरस" ग्रन्थ। इसमें वर्तमान धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक त्रुटियोंका बड़े मजेदार भाव और भाषामें चित्र खींचा गया है। पढ़िये और समझ समझकर हँसिये। दिलबहलावके साथ साथ आपको कई विषयोंपर ऐसी शिक्षा मिलेगी कि आप आश्चर्य्यमें पड़ जायंगे। अनुवाद भी हिन्दीके एक प्रसिद्ध और अनुभवी हास्यरसके लेखककी कलमका है। दूसरा संस्करण, बढ़िया एण्टिक कागजपर छपी पुस्तका मूल्य ॥≶)

९--खाद

लेखक--श्रीयुक्त मुख्तारसिंह वकील

भारत कृषिप्रधान देश है। कृषिके लिये खाद सबसे बड़ा आवश्यकीय पदार्थ है। बिना खादके पैदावारमें कोई उन्नति नहीं की जा सकती। यूरोपवाले खादके बदौलत ही अपने खेतोंमें

दूनी चौगुनी पैदावार करते हैं। इसलिए इस पुस्तकमें खादोंके भेद तथा किन अन्नोंके लिये कौन सी खादकी आवश्यकता होती है इनका बड़ी उत्तमतासे वर्णन किया गया है, चित्रों द्वारा भली प्रकार दिखलाया गया है! यह प्रत्येक कृषक तथा कृषिप्रेमियोंको अवश्य रखना चाहिये। पहला संस्करण खतम हो चला है। दूसरा संस्करण शीघ्र ही निकलेगा। मूल्य सचित्र और सजिल्दका १)

१०---प्रेम-पूर्णिमा

लेखक--श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

प्रेमचन्दजीकी लेखनीके सम्बन्धमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने उनके "सप्तसरोज" और "सेवासदन" का रसास्वादन किया है उनके लिये तो कुछ लिखना व्यर्थ है। प्रत्येक गल्प अपने ढंगकी निराली है। जमींदारोंके अत्याचारका विचित्र दिग्दर्शन कराया गया है। भाषाकी सजीविता, भावकी उत्कृष्टता और विषयकी उच्चताका अनूठा संग्रह देखना हो तो इस ग्रन्थको अवश्य पढ़िये। इसमें श्रीयुत "प्रेमचन्द" जीकी १५ अनूठी गल्पोंका संग्रह है। बीच बीचमें चित्र भी दिये गये हैं। खादीकी सुन्दर जिल्दका दूसरा संस्करण। मूल्य २)

११---आरोग्य साधन

लेखक--म० गांधी

बस, इसे महात्माजीका प्रसाद समझिये। यदि आप अपने शरीर और मनको प्राकृत रीतिके अनुसार रखकर जीवनको सुखमय बनाना चाहते हैं, यदि आप मनुष्य-शरीरको पाकर संसारमें आनन्दके साथ कुछ कीर्ति कमाना चाहते हैं तो महा-

त्माजीके अनुभव किये हुए तरीकेसे रहकर अपने जीवनको सरल, सादा, स्वाभाविक बनाइये और रोगमुक्त होकर आनन्दसे जीवन लाभ कीजिये। जिन तरीकोंको महात्माजीने बतलाया है वही यहांका प्राचीन प्रचलित तरीका था जिसके मुताबिक काम न करनेसे हमारी दशा इतनी बिगड़ गई। तीसरा संस्करण १३० पृष्ठका, दाम केवल ।-) मात्र।

१२---भारतकी साम्पत्तिक अवस्था

लेखक श्रीयुत राधाकृष्ण झा, एम०ए०

भारतकी आर्थिक अवस्थाका यदि आप ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, यदि आप यहांके वाणिज्य व्यापारके रहस्यका मार्मिक कारण जानना चाहते हैं, यदि कृषिकी दुर्व्यवस्था और मालगुजारी तथा अन्यान्य टैक्सोंकी भरमारका रहस्य जानना चाहते हैं, यदि आप यहाँका उत्पन्न कच्चा माल और वह कितनी कितनी संख्यामें विलायतको ढोया चला जाता है, उसके बदलेमें हमें कौन कौनसा माल दिया जाता है, उत्त आने और जानेवाले मालोंपर किस नीयतसे कर बैठाया जाता है, यहां प्रत्येक वर्ष कहीं न कहीं अकाल क्यों पड़ता है, हम दिनपर दिन क्यों कौड़ी कौड़ीके मोहताज हो रहे हैं, इत्यादि बातोंको जानना चाहते हैं तो आपका परम कर्त्तव्य है, कि इस पुस्तकको एक बार अवश्य पढ़ें। पहला संस्करण प्रायः खतम हो रहा है। यह पुस्तक साहित्य सम्मेलनकी परीक्षामें है। ६५० पृष्ठकी खादीकी सुन्दर जिल्दका मूल्य ३॥)

१३---भाव चित्रावली

चित्रकार श्रीधीरेन्द्रनाथ गङ्गोपाध्याय

१००रङ्गीन और सादे चित्र। भावुकताका अनूठा दृश्य।

हिन्दीमें अद्भुत और अपूर्व पुस्तक

इस पुस्तकमें एकही सज्जनके १०० चित्र विविध भावोंके दिखलाये गये हैं। आप देखेंगे और आश्चर्य करेंगे और कहेंगे कि ऐं! सब चित्रोंमें एक ही आदमी! गङ्गोपाध्याय महाशयने अपनी इस कलासे समाज और देशकी बहुतसी कुरीतियोंपर बड़ा जबर्दस्त कटाक्ष किया है। चित्र देखनेसे मनोरञ्जनके साथ साथ आपको शिक्षा भी मिलेगी! सुन्दर खादीकी जिल्द ४)

१४—राम बादशाहके छः हुक्मनामे

स्वामी रामतीर्थजीके छः व्याख्यानोंका संग्रह उन्हींकी जोरदार भाषामें। स्वामीजीके ओजस्वी और शिक्षाप्रद भाषणोंके बारेमें क्या कहना है, जिसने अमरीका, जापान और यूरोपमें हलचल मचा दी थी। इन व्याख्यानोंको पढ़कर प्रत्येक भारतवासीको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उर्दूके शब्दोंका फुटनोटमें अर्थ भी दिया गया है। स्वामीजीकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंके तीन चित्र भी हैं। पुस्तक बढ़िया एण्टिक कागजपर छपी है। मूल्य सुन्दर खादीकी जिल्दका १।)

१५—मैं नीरोग हूं या रोगी

ले० डाक्टर लुई कूने

इस बातको कौन नहीं जानना चाहता। यदि आप सचमुच स्वस्थ रहकर आनन्दसे जीवन बिताना, डाक्टरों, वैद्यों और हकीमोंके फन्देसे छुटकारा पाना, प्राकृतिक नियमानुसार रहकर सुख तथा शान्तिका उपभोग करना चाहते हैं तो इस पुस्तकको पढ़िये और लाभ उठाइये। जर्मनीके प्रसिद्ध डा० लुई कूनेकी इस पुस्तकका मूल्य केवल ।)

१६—रामकी उपासना

ले० रामदास गौड़ एम० ए०

स्वामी रामतीर्थसे कौन हिन्दू परिचित न होगा। उनके उपदेशोंका श्रवण और मनन लोग बड़ी ही श्रद्धाभक्तिसे करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक उपासनाके विषयमें लिखी गई है। उपासनाकी आवश्यकता, उसके प्रकार, परब्रह्ममें मनको कैसे लीन करना, सच्ची उपासनाके बाधक और सहायक, सच्चे उपासकोंके लक्षण आदि बातें बड़ी ही मार्मिक और सरल भाषामें लिखी गई हैं। हिन्दू गृहस्थोंके लिये पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है। सुन्दर एण्टिक कागजपर छपी है। कवरपर उपासनाकी मुद्रामें स्वामी रामतीर्थजीका एक चित्र भी है। ४८ पृष्ठका मूल्य ।)

१७---बच्चोंकी रक्षा

ले० डाक्टर लुई कूने

डाक्टर लुई कूने जर्मनीके प्रसिद्ध डाक्टर हैं। आपने अपने अनुभवोंसे सब बीमारियोंको दूर करनेका प्राकृतिक उपाय निकाला है। आपकी जलचिकित्सा आजकल घर घरमें प्रचलित है। प्रस्तुत पुस्तक भी आपके ही अनुभवोंका फल है। इस पुस्तकमें डाक्टर साहबने यह दिखलाया है कि बच्चोंकी रक्षाकी उचित रीति क्या है और उसके अनुसार न चलनेसे हम अपनी सन्ततिको किस गर्तमें गिरा रहे हैं। पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है। इसका घर घरमें प्रचार होना चाहिये। विद्यालयोंकी पाठ्य पुस्तकोंमें रखने योग्य पुस्तक है। सुन्दर एण्टिक कागजके ४८ पृष्ठोंका मूल्य केवल ।-)

१८--प्रेमाश्रम

लेखक श्रीयुक्त "प्रेमचन्द"

जिन्होंने प्रेमचन्दजीकी लेखनीका रसास्वादन किया है उनके लिये पुस्तककी प्रशंसा व्यर्थ है। पुस्तक क्या है वर्तमान दशाका

सच्चा चित्र है। विविध अवस्थाओं और भावोंको बड़ी खूबीसे संयुक्त किया गया है। किसानोंकी दुर्दशा, जमींदारोंके अत्याचार, पुलिसके कारनामे, वकीलों और डाक्टरोंका नैतिक पतन, धर्मके ढोंगमें सरलहृदया स्त्रियोंका फंस जाना, स्वार्थसिद्धिके कलुषित मार्ग, देशसेवियोंके कष्ट और उनके पवित्र चरित्र, सच्ची शिक्षाके लाभ, गृहस्थीके झंझट, साध्वी स्त्रियोंका चरित्र, सरकारी नौकरीका दुष्परिणाम आदि भावोंको लेखकने इस खूबीसे चित्रित किया है कि पढ़ते ही बनता है, एक बार शुरू करनेपर बिना पूरा किये छोड़नेको दिल नहीं चाहता। मैटर ठूंस २ कर भर दिया गया है फिर भी ६५० पृष्ठोंसे अधिक है। सुन्दर खादीकी जिल्दका मूल्य केवल ३॥)

१६---पंजाब हरण

लेखक प्रसिद्ध सिक्ख इतिहासवेत्ता पं० नन्दकुमार देव शर्म्मा। यह सिक्खोंके पतनका इतिहास है। १६ वीं सदीके आरम्भमें सिक्ख साम्राज्य महाराज रणजीतसिंहके प्रतापसे समृद्धशाली हो गया था। उनके मरते ही आपसके फूट बैर, कुचक्र, भीतरी घातों, अंग्रेज़ोंके विश्वासघातसे उसका किस प्रकार पतन हुआ, जो अंग्रेज़ जाति सभ्यताकी हामी भरती है, मैत्रीकी डींग हांकती है, उसने अपने परम प्रिय मित्र महाराज रणजीतसिंहके परिवारके साथ किस घातक नीतिका व्यवहार किया इसका वास्तविक दिग्दर्शन इस पुस्तकसे होता है। इससे अंग्रेजोंके सच्चे पराक्रमका भी पूरा पता चलता है। जो अंग्रेज़ जाति आज गली गली ढिंढोरे पीट रही है कि "हमने भारतको तलवारके बल जीता है" उनके सारे पराक्रम चिलियानवालाके युद्धमें लुप्त हो गये थे-और यदि सिक्खोंने मिलकर एक बार उसी प्रकार और हराया होता तो शायद ये लोग डेरा डण्डा लेकर कूंच ही कर गये होते। पुस्तक बड़ी खोजसे लिखी गई है।

सुन्दर मोटे एण्टिक कागजपर सचित्र २५० पृष्ठोंका मूल्य २)

२०---भारतमें कृषि-सुधार

लेखक पण्डित दयाशंकर दुबे एम० ए०

भारतीय अर्थशास्त्रके धुरन्धर विद्वान—लखनऊ विश्व-विद्यालयके अर्थशास्त्रके प्रोफेसर हैं। प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकने बड़ी खोजके साथ दिखलाया है कि भारतकी गरीबोका क्या कारण है, कृषिका अधःपतन क्यों हुआ है, अन्य देशोंकी तुलनामें यहांकी पैदावारकी क्या अवस्था है और उसमें किस तरह सुधार किया जा सकता है, सरकारका क्या धर्म है और यह उसका किस तरह प्रतिपालन कर रही है, इत्यादि बातोंका दिग्दर्शन लेखकने बड़ी मार्मिक भाषा और दृढ़तर प्रमाणोंके साथ किया है। पुस्तक अपने ढंगकी निराली है और बड़ी ही उपयोगी है। पुस्तकमें कई चित्र भी दिये गये हैं। पृष्ठ संख्या २७५ मूल्य १॥)

२१---देशभक्त मैजिनीके लेख

लेखक पण्डित छविनाथ पाण्डेय बी० ए० एल० एल० बी०

भूमिका लेखक—दैनिक "आज"के सम्पादक बाबू श्रीप्रकाश बी० ए०, एल० एल० बी० बेरिस्टर-एट-ला।

इटलीका इतिहास पढ़नेवालोंको भली भांति विदित है कि १८ वीं सदीमें इटलीकी क्या दशा थी। परराजतन्त्रके दमनचक्रमें पड़कर इटली घोर यातनायें भोग रहा था। न कोई स्वतन्त्रता-पूर्वक लिख सकता था और न बोल सकता था। कहनेका मतलब यह है कि भारतकी वर्त्तमान दशा इटलीकी उस समयकी दशासे ठीक मिलती जुलती है। इटली एकदम निर्जीव हो गया था। ऐसी ही दशामें देशभक्त मैजिनीने अपने लेखोंका शंखनाद किया। इनका ही प्रभाव था कि इटली जाग उठा और स्वतन्त्र

बन गया। ग्रन्थके अन्तमें संक्षेपमें मैजिनीका जीवनचरित्र भी दिया गया है। पृष्ठ संख्या २६०से भी अधिक है। मूल्य २)

२२—गोलमाल

ले०—रायबहादुर काली प्रसन्न घोष

जिन लोगोंने बंकिम बाबूका चौबेका चिट्ठा और गोबर गणेश संहिता पढ़ी है, वे गोलमालके मर्मको भली भांति समझ सकते हैं। रायबहादुर काली प्रसन्न घोषने बंगलाके 'भ्रान्ति विनोद' में समाजमें प्रचलित कुछ साधारण बुराइयोंकी—जिसे वर्त्तमान समाजने प्रायः अनिवार्य और क्षम्य मान लिया है—मार्मिक भाषामें चुटकी ली है। प्रत्येक निबन्ध अपने ढंगके निराले हैं। रसिकता और रसीली बातोंसे लेकर दिगन्त मिलन तक समाजकी बुराइयोंकी आलोचनासे भरा है। भाषा रसीली, विषय गम्भीर, पढ़नेमें चटपटी है। तीनों बातें इस पुस्तकमें वर्त्तमान हैं। उसी भ्रान्ति विनोदका यह गोलमाल हिन्दी अनुवाद है। मूल लेखकके भावको ज्योंका त्यों रखनेकी पूरी चेष्टा की गई है। पुस्तक पढ़नेमें बड़ी ही रोचक है। सुन्दर छपाई, बढ़िया कागज, आर्ट कवरके २०० पृष्ठोंका मूल्य १।=) मात्र

२३—१८५७ ई० के गदरका इतिहास

लेखक—पण्डित शिवनारायण द्विवेदी

सिपाहीविद्रोह क्यों हुआ? यह प्रश्न अभीतक प्रत्येक भारतवासीके हृदयको आन्दोलित कर रहा है। कोई इसे सिपाहियोंका क्षणिक जोश बतलाते हैं, कोई सिपाहियोंकी बेजड़ बुनियाद, धर्मभीरुता बतलाते हैं और कोई इसे राजनीतिक कारण बतलाते हैं। साधारण बुद्धिसे भी विचार करनेपर यही कहा जा सकता है कि इतनी भीषण क्रान्ति बिना किसी प्रबल

और विशेष कारणके नहीं हो सकती। प्रस्तुत पुस्तक अनेक अंग्रेज इतिहासज्ञोंकी पुस्तकोंके गवेषणापूर्ण छानबीनके बाद लिखी गयी है। पूरे प्रमाण सहित इसमें दिखलाया गया है कि सिपाहियोंकी क्रान्तिके लिये अंग्रेज अफसर पूर्णतः दोषी हैं और यदि वे चेष्टा किये होते तो लार्ड डलहौजीकी कुटिल और दोषपूर्ण नीतिके रहते भी इतना रक्तपात न हुआ होता। प्रस्तुत पुस्तकसे इस बातका भी पता लगता है कि इस रक्तपात की भीषणता बढ़ानेमें अंग्रेजोंने भी कोई बात उठा नहीं रखी थी। पुस्तक प्रत्येक भारवासीके पढ़ने योग्य है। पुस्तक दो भागोंमें समाप्त हुई है। सुन्दर एण्टिक कागजपर छपी है। प्रथम भागके सजिल्द प्राय: ६०० पृष्ठोंका मूल्य ३॥) मात्र। द्वितीय भागका मूल्य ४॥) सजिल्द। पृष्ठ सं० लगभग ८००

२४—भक्तियोग

ले०—श्रीयुक्त अश्विनीकुमार दत्त

अनुवादक चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'। कौन भगवानकी प्रेमसे सेवा नहीं करना चाहता ? कौन भगवद्-भक्तिके रसका आनन्द नहीं लेना चाहता ? आदर्श भक्तोंके जीवनका रहस्य कौन नहीं जानना चाहता ? हृदयकी साम्प्रदायिक संकीर्णताको त्यागकर सुन्दर मनोहर दृष्टान्तोंके साथ साथ उच्च कोटिके धर्मशास्त्रों और विद्वानों, भक्तों और महात्माओंके अनुभवोंसे भक्तिका रहस्य जाननेके लिये इस 'भक्तियोग' ग्रन्थका आदिसे अन्ततक पढ़ जाना आवश्यक है। ईश्वर भक्तोंके लिये हिन्दी साहित्यमें अपने ढङ्गका यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। पृष्ठ संख्या २६८ मूल्य सजिल्द १।।।)

२५—तिब्बतमें तीन वर्ष

ले० जापानी यात्री श्रीइकाई कावागुची

तिब्बत एशिया खंडका एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, परन्तु वहांके
निवासियोंकी धार्मिकता तथा शिक्षाके अभावके कारण अभी
तक वह खंड संसारकी दृष्टिसे ओझल ही था,परन्तु अब कई या-
त्रियोंके उद्योग और परिश्रमसे वहांका बहुत कुछ हाल मालूम हो
गया है। इन्हीं यात्रियोंमें सबसे प्रसिद्ध यात्री कावागुचीकी यात्रा-
का यह विवरण हिन्दी-भाषा-भाषियोंके सामने रक्खा जाता है।

इस पुस्तकमें आपको ऐसी ऐसी भयानक घटनाओंका वित्ररण
पढ़नेको मिलेगा जिनका ध्यान करने मात्रसे ही कलेजा कांप उठता
है, साथही ऐसे ऐसे रमणीक स्थानोंका चित्र भी आपके सामने
आयेगा जिनको पढ़कर आप आनन्दके सागरमें लहराने लगेंगे।
आपको आश्चर्य होगा कि तिब्बत भारतके इतना नजदीक होने
पर भी अभीतक हमलोग उसके विषयमें कितने अनभिज्ञ थे।

इस पुस्तकमें दार्जिलिङ्ग, नैपाल, हिमालयकी बर्फीली
चोटियां, मानसरोवरका रमणीय दृश्य तथा कैलाश आदिका
सविस्तर वर्णन पढ़कर आप बहुतही आनन्दलाभ करेंगे।

इसके सिवा वहांके रहन सहन, विवाहशादी, रीति-रिवाज
एवं धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक अवस्थाओंका भी पूर्ण हाल
विदित हो जायगा। यह पुस्तक इस ढङ्गसे लिखी गई है कि आप
एक बार आरम्भ करनेके बाद बिना समाप्त किये नहीं छोड़
सकेंगे। पढ़नेमें उपन्याससे भी अधिक आनन्द मिलेगा। पुस्तक
सुन्दर चिकने कागजके प्रायः ५२५ पृष्ठकी है। कावागुचीका
चित्र भी दिया गया है मूल्य २॥) सजिल्द ३॥।≈)

२६—संग्राम

 लि० उपन्यास सम्राट् श्रीयुक्त "प्रेमचंदजी"

मौलिक उपन्यास एवं कहानियां लिखनेमें श्रीयुक्त प्रेमचन्दजीने
हिन्दीमें वह नाम पाया है जो आजतक किसी हिन्दी लेखकको
नसीब न हुआ। उनके लिखे 'प्रेमाश्रम' एवं 'सेवासदन' की

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी,
ज्ञानवापी, बनारस ।

